लेखक

श्री मनोहर बलवंत दिवाण

अनुवादक

श्री 'आनंदवर्द्धन'

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री
सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

संस्करण
पहली बार : १०००
नवंबर : १९४३
मूल्य
बारह आना

मुद्रक,
देवीप्रसाद शर्मा,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस, नई दिल्ली

विषय-सूची

भूमिका*

'लेप्रसी' यानी कोढ़, रक्तपित्त या महारोग की जानकारी हिन्दुस्तान में तथा संसार के दूसरे भागों में बहुत पुराने समय से--ईस्वी सन् के दो-तीन हजार वर्ष पहले से, होने के प्रमाण मिलते हैं। यह कोई मामूली रोग होता और मनुष्य-जाति को विशेष पीड़ा या क्लेशप्रद न होता तो इसके बारे में बहुत सोचने-विचारने की जरूरत नहीं थी। परन्तु अत्यन्त दुःखदायी और मानसिक पीड़ा उपजानेवाले जो रोग हैं यह तो उनमें से एक है।

यह सब देशों में किसी भी फिर्के के लोगों में होता है। यद्यपि दीन-दुर्बलों को यह अधिक सताता है, पर धनियों के साथ भी यह रत्ती-भर भी रिआयत नहीं करता। यदि कोढ़ियों में पुरुषों की संख्या अधिक है, तो यह समाज-रचना का परिणाम है; इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस रोग से स्त्रियों के लिए किसी तरह की निर्भयता या छूट है। छोटे बच्चों के शरीर में रोग-निवारण की शक्ति की बिल्कुल कमी, और बचपन में आवरण त्वचा और श्लेष्मल त्वचा के कोमल और नाजुक होने के कारण, जैसे कोढ़ी के नजदीक रहने से बच्चों को यह बीमारी लग जाने का पूरा डर रहता है, वैसे ही असावधानी से कोढ़ी के निकट संस्पर्श में रहने से युवा स्त्री-पुरुषों को भी यह रोग लग सकता है। यद्यपि कोढ़ियों की सन्तान जन्म के समय से ही कुष्ठ-पीड़ित नहीं होती, और जन्म के बाद ही रोग-पीड़ित माता-पिता से

---

* यह भूमिका ब्रि. ए. लेप्रसी रिलीफ एसोसियेशन की सी. पी. और बरार प्रांतिक शाखा के एक्जिक्यूटिव कमेटी के चेयरमैन, कर्नल सर कृ. वि. कुकडे, सी. आई. ई., आई. एम्. एस्., एल. एम्. ऐंड एस्. (बंबई) एल्. आर. सी. पी. ऐंड एस् (एडिनबरा) रिटायर्ड इन्स्पेक्टर जनरल आफ् सिविल हास्पिटल्स सी. पी. ने लिखी है।

अलग कर देने पर नीरोग रह सकती है, तथापि कोढ़ियों की सन्तान के शरीर में इस रोग का प्रतिकार करने की शक्ति दूसरों की सन्तान की अपेक्षा कम होती है, और इस वजह से कोढ़ियों के बाल-बच्चों को किसी खास मौके पर इस रोग के लग जाने की अधिक सम्भावना रहती है। यही बात क्षय और कैंसर के रोगियों के बारे में भी होती है।

कोढ़ प्रकट होजाने पर, उसका यदि समय रहते अच्छा इलाज न हुआ तो फिर उसकी हालत न पूछिए। प्रायः रोग का प्राथमिक चिन्ह चेहरे पर दिखाई देने के कारण उसका छिपाना असम्भव रहता है; और रोग छुतहा होने के कारण लोग उसके पास फटकने से हिचकते हैं। कुटुम्ब में पति-पत्नी एक-दूसरे को छोड़ देते हैं; और गाँववालों को तो उसका गांव में रहना भी नहीं सुहाता। उसके बीमार पड़ने पर कोई उसकी सेवा-शुश्रूषा करने तक की हिम्मत नहीं करता। रोग का जोर बढ़ जाने पर उसके हाथ-पैर पर घाव होजाते हैं और हाथ-पैरों की अंगुलियाँ गलने लगती हैं। वास्तव में ऐसा कोढ़ी (जिसे अंग्रेजी में 'बर्न्ट् आउट केस' कहते हैं) रोगाणुओं से मुक्त होता है; उसके शरीर के कोढ़ के जन्तु नष्ट हुए रहते हैं, और इसके बाद वह छुतहा नहीं रह जाता। परन्तु उसकी इस बदशक्ली के कारण साधारण मनुष्य से उसकी ओर देखा नहीं जाता। घाव आँखों पर होने पर वह अन्धा तक होजाता है और गले में होने पर उसकी आवाज तक जाती रहती है। इस प्रकार से विकृत होकर कई अंगों में दुर्बल होने पर, भीख माँगने के लिए भी ऐसे आदमी का सामने आना लोग पसन्द नहीं करते। सौभाग्य से दूसरे आकस्मिक या महामारी जैसे रोगों के द्वारा मृत्यु से उसका शीघ्र छुटकारा न हुआ तो उसको यह दुर्दशा बीस-बीस वर्षों तक भोगनी पड़ती है।

सब राष्ट्रों का यह अनुभव है कि जिस राष्ट्र ने इस रोग की ओर से आँखें बन्द कीं और इसे निर्मूल करने में लापरवाही की नीति पकड़ी, उस राष्ट्र में यह रोग बराबर बढ़ता ही गया; और इसके विपरीत

जिस राष्ट्र ने विशेष रूप से ध्यान देकर इसे उखाड़ फेंकने में या इसके फैलने देने के खिलाफ शास्त्रानुकूल और प्रभावकारी उपायों पर अमल किया, उसे इस रोग का समूल नाश करने में बड़ी सफलता मिली। इस प्रकार आज इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, नार्वे आदि राष्ट्रों ने इस रोग के रोकने का जहाँतक हो सका, पूरा प्रबन्ध किया है। कभी-कभी वहाँ कुछ रोगी जो देखने में आते हैं, वे इस रोग को दूसरे देशों से लाये हुए होते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान में इस रोग की जानकारी प्राचीन समय से है। इस रोग का दवा-पानी भी होता रहा होगा। पर रोग को रोकने का विशेष उपाय तो रोगी को अलग रखना ही था। उपाय कोई भी काम में लाया गया हो, यह सही है कि उससे रोग अपेक्षित रूप से रुका नहीं।

हिन्दुस्तान में इधर बहुत सालों से क्रिश्चियन मिशनरी लोग धर्म-परायणता और भूतदया से प्रेरित होकर कोढ़ियों का दुःख दूर करने की कोशिश में लगे हैं। उनका उद्देश्य बीमारों का सिर्फ शारीरिक ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक दुःख निवारण करना भी होता है। सन् १९२५ ईस्वी में ब्रिटिश एम्पायर लेप्रसी रिलीफ एसोसिएशन की हिन्दुस्तान की मुख्य शाखा अर्थात् इंडियन कौंसिल हिन्दुस्तान की राजधानी में स्थापित हुई और उसकी शाखाएँ हर प्रान्त में खोली गई और इस काम के लिए एक खासी रकम एकत्र की गई। सम्प्रति यह इंडियन कौंसिल और इसकी उपशाखाएँ, प्रान्तीय सरकारें, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और करुणात्मक कार्य में हार्दिक रस लेने-वाले विभिन्न प्रान्तों के कुछ नागरिक अथवा उनके द्वारा स्थापित की हुई निजी संस्थाएं, सब मिलकर इस देश से कोढ़ को निर्मूल करने के लिए यथाशक्य प्रयत्न कर रहे हैं।

उनकी कोशिशों का थोड़े में कुछ हाल नीचे दिया जाता है—

(१) रोग की उत्पत्ति, उसके फैलाव और उपचार के बारे में खोज करना।

(२) डाक्टरों, कोढ़ के लिए काम करनेवालों, प्रत्यक्ष खुद रोगी, साधारण जनता और खासकर अपनी अगली पीढ़ी यानी स्कूल के विद्यार्थियों को इन सबकी विभिन्न आकलन शक्ति के अनुसार इस रोग की शास्त्रीय जानकारी करा देना।

(३) कोढ़ रोगियों की छूत से ही होने के कारण निराश्रित रोगियों को धर्मार्थ कोढ़ीखानों में, खुशहाल रोगियों को उनके खर्चे से कोढ़ीखाने में, अथवा सम्भव हो तो उसके अपने ही घर में, और आवश्यकता पड़ने पर कुछ किसानों को गाँव से बाहर पास के किसी हवादार और स्वच्छ स्थान में अलग रहने का और उपयुक्त इलाज का सुभीता कर देना। (जब हम समाज के हित के खयाल से कोढ़ के रोगियों को अलग रखते हैं, तब उनके रहने और खान-पान आदि की ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिए कि जहाँतक सम्भव हो रोग-पीड़ित मनुष्य स्वयं वहाँ रहने को तैयार हो जाय।)

(४) समाज-हित की दृष्टि से रोगी के सन्तान न होना ही अच्छा है। इस वजह से कोढ़ी पति-पत्नी को अलग-अलग रखने का सुभीता होना चाहिए। अथवा विकल्प से (आल्टरनेटिवली), शक्य होने पर कोढ़ी स्त्री-पुरुषों को शस्त्रक्रिया (आपरेशन) से बधिया अर्थात् अनुत्पादक कर देना चाहिए, यह भी कितने ही देशों में सुझाया जारहा है।

५. कोढ़ियों की निरोगी सन्तानों को मां-बाप से अलग करके उनके पालन-पोषण का उचित प्रबन्ध करना।

६. कोढ़ियों को अलग रखना, इलाज करना आदि बातें कोढ़ियों या उनके कुटुम्बियों की रजामन्दी से होना अच्छा है। लेकिन बहुत बार यह मुश्किल होजाता है। अतः ऐसे मौकों पर काम में आने-वाले कानून सरकार से पास करा लेना। इत्यादि इत्यादि।

हम कह चुके हैं कि यह रोग छूत से फैलता है। इस वजह से कोढ़ीखानों या दवाखानों में काम करने की सहसा लोग हिम्मत

नहीं करते। वास्तव में देखा जाय तो कोढ़ियों में काम करते हुए बहुत सफाई से रहने, कोढ़ियों को अपने खानपान की चीजें, बर्तन-भांडे, कपड़े-लत्ते वगैरह न छूने देने, अपने शरीर पर कोई घाव हो तो उसको बचाने, अथवा उतने दिन अपना काम बन्द रखने की सावधानी रखलेने पर डाक्टरों अथवा रोगियों की सेवा करनेवालों को छूत शायद ही लगती है, यह अनुभव है। पर बहुतों का खयाल है कि इस रास्ते में न पड़ना ही सबसे अच्छा है। यह होते हुए भी मध्य-प्रान्त के वर्धा कस्बे में कुछ विख्यात समाजसेवकों ने सन् १९३६ ईस्वी में "महारोगी (कोढ़ी) सेवा मंडल" नामक संस्था स्थापित की। इस संस्था की ओर से डा० महोदय, एम. बी. बी. एस, और श्री मनोहरजी दिवाण ने कोढ़ियों के बारे में मत-प्रचार, उपचार और जाँच करनेवाला एक केन्द्र येलीकेली में खोलकर प्रत्यक्ष कार्य आरम्भ कर दिया है। काम की बाढ़ की वजह से उन्हें शीघ्र ही वायगांव में दूसरा केन्द्र स्थापित करना पड़ा। श्री दिवाण डाक्टर नहीं हैं, तथापि इस भूतदया के काम के लिए उन्होंने अपना तन-मन-धन अर्पण करके कामचलाऊ सारा औपपत्तिक और व्यावहारिक ज्ञान हिन्दुस्तानी मिशन के चाँदखुरी और पुरलिया के खास कोढ़ीखानों में रहकर प्राप्त किया है। कलकत्ता के स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसन का लेप्रसी कोर्स भी उन्होंने पूरा किया है। इस मण्डल को तथा इसके काम को मध्यप्रान्तीय सरकार के पब्लिक हेल्थ डिपार्टमेण्ट की मंजूरी भी मिल गई है।

यह पहले कहा जा चुका है कि अपने देश से कोढ़ को दूर करने का यत्न करनेवाले कार्यकर्ता, स्वयं रोगियों और सुशिक्षित जनता को इस रोग की साधारण शास्त्रीय जानकारी करा देना एक खास काम है। इस ज्ञान के फैलाने का काम करते समय श्री दिवाण को यह अड़चन जान पड़ी कि इस विषय पर मराठी में कोई किताब नहीं है। इस कमी की पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी सर्वदा की उत्साहवृत्ति से यह पोथी लिखने का काम हाथ में लिया। यह पुस्तक डाक्टरों के लिए नहीं लिखी

हिंदुस्तान में फैलाव

हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से में कोढ़ ने अपने हाथ-पांव फैला रक्खे हैं। आदिनिवासियों में वह पुराने जमाने से चलता आरहा है। उसकी रोक-थाम के खयाल से जातीय रीति-रिवाजों-संबंधी रूढ़ियाँ भी पाई जाती हैं। कुछ जातियों में, जहां उसका नाम-निशान भी नहीं था, इधर जंगलों की बस्तियों से मजूरी के लिए बड़े-बड़े शहरों में या उद्योग-केंद्रों में जाने पर उसका प्रवेश होगया। वहाँ उन्हें उसकी छूत लग जाती है और जब वे अपने स्थान पर वापस लौटते हैं तो उनसे जंगल के दूसरे अधिवासियों में वह फैलने लगता है।

बर्मा में इसका काफी जोर है। आसाम की दोनों घाटियों में यह पाया जाता है। बाहर के रोग-ग्रस्त भाग में जहाँ मजदूर बड़ी तादाद में भर गये हैं वहाँ इसका विशेष रूप से प्रकोप है। बिहार-बंगाल के मध्य में छोटा नागपुर और गंगा किनारे के सपाट प्रदेश के बड़े हिस्से में एक दक्षिणोत्तर पटिया की पटिया ही है, जिसमें गया, संथाल परगना, बीर-भूम, पश्चिमी बर्दवान, मानभूम (पुलिया), बाँकुड़ा और मिदनापुर जिलों का समावेश है। यही पटिया नीचे की ओर उड़ीसा और मद्रास इलाके में बालासोर, पुरी, गंजाम और गोदावरी तक फैली हुई है। मद्रास का और दूसरा हिस्सा जहाँ इसका ज्यादा जोर है अरकाट और सेलम जिले हैं। त्रावणकोर, कोचीन और मलाबार में भी इसकी बहुतायत है। मध्यप्रांत के छत्तीसगढ़ और बरार-विभाग में भी ऊपर के जितना ही है। नैपाल से सटे हुए बिहार के हिस्से और संयुक्तप्रांत में भी, कम होने पर भी, है सर्वत्र। हिमालय में और काश्मीर में यह मुश्किल से मिलता है। इसका कारण आत्यंतिक हवामान और जंगली रहन-सहन होसकता है। पूर्वी हिंदुस्तान में कोढ़ की प्रवृत्ति सार्वत्रिक

न होकर मर्यादित—दो-चार केंद्रों में ही—रहने की थी। पर जबसे आमदरफ्त के साधन बढ़े और फैले, कल-कारखानों की बाढ़ हुई, जातियों का पारस्परिक व्यवहार बढ़ा, बड़ी तादाद में लोगों का इधर से उधर जाना आसान हुआ, तबसे अलिप्त हिस्से में भी रोगग्रस्त हिस्से की तरह इसके फैलने की सुविधा होगई।



तीसरा प्रकरण

रोग का दायरा

हिंदुस्तान में कोढ़ के दायरे को चार शीर्षकों में बाँटा जाना चाहिए—(१) स्थान, (२) रोग का प्रकार, (३) उम्र, (४) स्त्री-पुरुष-भेद।

स्थान

हिंदुस्तान में कोढ़ कहाँ कितना फैला है, यह जानने के लिए मर्दुम-शुमारी के अंकों के सिवा दूसरा साधन हमारे पास नहीं है। पिछले दस सालों में कोढ़-संबंधी जांच का काम हिंदुस्तान के काफी हिस्सों में हुआ है। १९२१ की मर्दुमशुमारी में कोढ़ियों की तादाद १,०२,००० थी। १९३१ में वह १,४७,९११ मिलती है। इससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि रोग बाढ़ पर है। इतना ही कहा जासकता है कि पहली जाँच में कुछ ढिलाई रही होगी और पिछली जाँच चौकस हुई होगी। विशेषज्ञों की ओर से खास कोढ़ के संबंध में जो जाँच हुई, उसमें रोगियों की तादादं असली मर्दुमशुमारी की तादाद से कहीं तिगुनी तो कहीं बीस गुनी से ज्यादा पाई गई। मर्दुमशुमारी की संख्या से

लोगों में इस मामले में जो अज्ञान और वहमी कल्पनाएँ हैं उन्हें दूर करने से। वास्तव में तो अज्ञान ही रोग है और ज्ञान ही तारनहार है।

शास्त्रीय आधार को कायम रखकर लौकिक पद्धति से कोढ़ का सांगोपांग सरल विवेचन इस पुस्तक में किया गया है। यथाशक्य भाषा सरल, प्रकरण छोटे और पारिभाषिक संज्ञाओं का कम इस्तेमाल करते हुए इस अपरिचित और कुछ क्लिष्ट विषय को सुलभ करने की कोशिश की गई है। पुस्तक को आकर्षक के बजाय उद्‌बोधक और शास्त्रीय की अपेक्षा सुगम बनाने की ओर नजर रक्खी गई है। इसमें मनोरंजकता चाहे न हो पर रोगियों के बारे में सहृदयता है, साहित्य न हो पर सह-हित है। सुशिक्षितों के बजाय सिर्फ भाषा जाननेवाले जिज्ञासु पाठकों का खयाल रखकर यह लिखी गई है। इतना मानकर चलना तो अनिवार्य था कि शरीर-विज्ञान का साधारण ज्ञान पाठकों को है। पाठकों को शारीरिक विज्ञान का प्राथमिक ज्ञान न हो तो अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिए। बिना इसके ७वाँ और १७वाँ प्रकरण समझना मुश्किल होगा। त्वचा और मज्जातन्तु की रचना और कार्य के सम्बन्ध की जानकारी इसीलिए खासतौर से इस पुस्तक में शामिल की गई है।

यह पुस्तक खासकर म्यूर के लेप्रसी, डायग्नासिस, ट्रीटमेंट ऐंड प्रिवेंशन' की ६ठी आवृत्ति और लो की 'लेक्चर नोट्स आन् लेप्रसी', इन दो अधिकारी ग्रंथों के आधार पर लिखी गई है। कुछ हिस्सा तो उनका भावानुवाद ही है। इसके सिवा राजर्स और म्योर के 'लेप्रसी', 'लेप्रसी इन इंडिया' त्रैमासिक के पुराने अंकों का और डा० डी. एन. मुकर्जी के 'शार्ट नोट्स' इत्यादि का आवश्यक उपयोग किया गया है। रुग्णक, काल-कुष्ठ, कुष्ठिका, बेधक व्रण इत्यादि कुछ शब्द नये भी गढ़ने पड़े हैं।

इस कार्य में अनेकों ने अनेक तरह की सहायता की है। वर्धा डिस्ट्रिक्ट

लेप्रसी कौंसिल और इंडियन कौंसिल ने भी यथाशक्य सहकार किया है। इन सबका मंडल और में ऋणी और कृतज्ञ हूँ।

अन्त में अपने मन की हालत कहूँ तो 'माल मालिक का गुवाल के हाथ में लकड़ी' वाली कहावत है। पुस्तक में कहीं कुछ सुझानेलायक जान पड़े तो पाठक जरूर सुझावें। उसपर विचार किया जायगा।

समाज का इस सवाल की ओर ध्यान हो और इस रोग की जड़ दूर हो, यह प्रार्थना है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयाः।

वर्धा

१० अगस्त १९४०

मनोहर बळवन्त दिवाण

भूतदया का मंत्र और विनियोग

कोढ़ सम्बन्धी जानकारी के लिए मराठी भाषा में प्रायः यह पहली ही पुस्तक है। प्रत्यक्ष सेवा करते हुए लोक-शिक्षण के निमित्त आवश्यकता देखकर यह लिखी गई है। मुझे आशा है कि इसका ठीक उपयोग होगा। कोढ़ खास कर गांवों का रोग होने के कारण हमारे ग्रामसेवकों के लिए यह पुस्तक काम की होगी।

मराठी भाषा में आज इस विषय पर यह अकेली पुस्तक सामने आ रही है। इसकी वजह है कि कोढ़ियों की सेवा की ओर आज भी हमारा ध्यान नहीं गया है। जो कुछ थोड़ा-बहुत सेवा-कार्य चल रहा है वह ईसाई लोग कर रहे हैं। मानों हमने यह काम ईसाइयों के जिम्मे सौंप रखा है। ईसाइयों के लिए यह भूषण है, पर हमारे लिए वही दूषण है। ऐसा होने का कारण क्या है? मुझे जान पड़ता है :—हमने 'भूतदया' इस महान् शब्द का उच्चारण किया। ईसाईधर्म ने 'मानवदया' (ह्यूमेनिटी) इस मर्यादित शब्द का उच्चारण किया। 'भूतदया' शब्द का उच्चारण करने की वजह से एक ओर मांसाहार-निवृत्ति जैसे बड़े प्रयोग हम थोड़े-बहुत कर सके, पर दूसरी ओर मानवदया से, जो भूत-दया के पेट में अपनेआप और प्रथम ही आनेवाली चीज है, हम बेखबर रहे।

इस विसंगति से मुक्त होने के लिए भूतदया शब्द छोड़ने की जरूरत नहीं है। शब्द महान् है और वही योग्य है। इससे वृत्ति को व्यापक रखने में मदद मिलती है। पर वृत्ति व्यापक रखकर बर्त्ताव भी विशिष्ट होना चाहिए। आत्मा महान् होने के कारण उसकी मर्यादा बाँधना ठीक नहीं। पर देह मर्यादित होने के कारण मर्यादा छोड़ना भी

संभव नहीं है। मानव की भूतदया का आरम्भ ही नहीं बल्कि उसका मुख्य कार्यक्षेत्र भी मानव ही रहनेवाला है, यह हमें नहीं बिसरना चाहिए। और शब्द व्यापक ही रखकर मानव के बाहर जितनी मानवता लेजाई जासकती है उतनी लेजाने की गुंजायश रखलें तो हमारा काम बन जाता है।

हमारे समाज में दयाभाव की कमी तो मुझे नहीं जान पड़ती। पर दूसरी बहुतसी बातों की तरह हमारा दयाभाव अव्यवस्थित है। जब वह व्यवस्थित होगा तब हमारा महान् शब्द और हमारा महान् देश इस महारोग कोढ़ को-फिर वह रोग खुद कितना ही महान् क्यों न हो—— जीवित नहीं रहने देगा। हमें आशा करनी चाहिए कि वह समय शीघ्र ही आनेवाला है, और यह पुस्तक इसकी शुभसूचना देनेवाली सिद्ध होगी।

पवनार

२७–८–४०

विनोबा

कोढ़

पहला प्रकरण

कोढ़ का इतिहास

कोढ़ का आदिस्थान अफ्रिका है या एशिया इस बारे में एक मत नहीं है। संभवतः अफ्रिका में आरंभ हुआ होगा। कुछ बहुत पुराने वक्त के प्रमाण पाये जाते हैं। उनमें पहला स्थान वेद में 'कुष्ठ' रोग के उल्लेख का है। ईस्वी सन् के १५५० वर्ष पहले के इबर के पपरिस में 'उचेडू' नाम से कोढ़ से मिलते-जुलते रोग का जिक्र है। ईस्वी सन् के १३५० वर्ष पहले के मिस्र में मिले हुए प्रमाण के आधार पर तो कहा जाता है कि वह सूडान से मिस्र में गुलामों के द्वारा पहुँचा होगा। पर यह प्रमाण संशयग्रस्त हैं। जो हो, इतना सही जान पड़ता है कि प्राचीन समय में कोढ़ के एक देश से दूसरे देश में फैलने में चढ़ाइयां और गुलामों का व्यापार बड़े साधन थे। इस जमाने में भी वही बात है।

बहुत पुराने समय में मध्य अफ्रिका, हिन्दुस्तान और मिस्र में कोढ़ था। वहाँ वह आज भी है।

हिन्दुस्तान से वह पूर्व की ओर फैला। प्राचीन चीनी ग्रन्थों में उसके होने के प्रमाण नहीं हैं। पर ईस्वी सन् के २०० से १०० वर्ष के पहले के ग्रन्थों में तो उसका साफ जिक्र है। पहलेपहल उसका उल्लेख चाऊ राज्यशासन के समय में मिलता है। और शांटुंग प्रान्त में उसकी शुरु-आत होने की बात कही जाती है।

मिस्र में वह भूमध्यसागर के पूर्व की ओर फैला। यहूदियों की बायबल में 'झराथ' नाम के रोग का जिक्र अनेक बार आया है। सम्भवतः

इस नाम से अनेक प्रकार के त्वचा—चर्म-रोगों का उल्लेख होता रहा होगा। ईस्वी सन् १५० के मध्य में यहूदी पुस्तकों के अनुवाद हुए। उसमें त्वचा के रोग अर्थात् 'झराथ' का अनुवाद 'लेप्रा' हुआ मिलता है। भूल से ऐसा हुआ जान पड़ता है। यूनान में हिपोक्रेटिस के जमाने में कोढ़ नहीं रहा होगा। ईस्वी सन् से पूर्व ३४५ में अरस्तू के जमाने में कोढ़ की साफ-साफ चर्चा मिलती है। उस वक्त कैम्बिसिस, डरायस और जेरकसीज नामक ग्रीक योद्धाओं की मिस्र और एशियामाइनर में जो चढ़ाइयां हुई उनकी वजह से ग्रीस में उसका आगमन हुआ होगा। प्राचीन अरबी पोथी-पन्नों में कोढ़ का 'ज्यूदसम' (जुदाम) के नाम से उल्लेख हुआ है। उसका भी ऐसी ही भूलभरी कल्पना से अनुवाद हुआ है। पर एक बार जो 'लेप्रा' शब्द चला, आज भी वह यूरोपीय भाषाओं में चलता जारहा है।

रोमनों में (इटली में) ईस्वी सन् पूर्व ६२ में पूर्व की ओर पाम्पी के सैनिकों की मार्फत उसने प्रवेश किया। आगे के रोमन इतिहास में उसकी चर्चा लगातार मिलती है। रोमन साम्राज्य के साथ ही उसने यूरोप के दूसरे राष्ट्रों में भी अपने पाँव फैलाये। ईस्वी सन् १८० में उसके जर्मनी में घुसने का उल्लेख है। ईस्वी सन् ६०० तक इटली और जर्मनी में सैंकड़ों कोढ़-आश्रम (लेपर असाइलम) खुलने की चर्चा मिलती है। स्पेन में छठवीं सदी में उसका प्रवेश हुआ। जान पड़ता है रोमन साम्राज्य के पतन के बाद सरसिन लोग उसे फ्रांस में लेगये। इंग्लैंड में पहला कोढ़-चिकित्सालय सन् ६३८ में नटिंघम में स्थापित हुआ। फिर स्काटलैण्ड, नार्वे, आइसलैंड, डेन्मार्क, स्वीडन, रूस इत्यादि देशों में उसका फैलाव हुआ। ईस्वी सन् १००० से १४०० के बीच में कोढ़ हर जगह था। सन् १२०० के करीब वह ज्यादा-से-

ज्यादा बढ़ा हुआ जान पड़ता है। यह माना जाता है कि इस फैलाव मे धर्मयुद्ध का ज्यादा हाथ था। तेरहवीं सदी से वह घटना शुरू हुआ। कुछ फुटकर स्थानों को छोड़कर सत्रहवीं सदी में यूरोप में वह नहीं के बराबर रह गया। हिसाब से एक हजार वर्ष तक यूरोप में उसका डेरा रहा। यूरोप में उसके नष्टप्राय होने के कारणों का निश्चय करना कठिन है। तथापि मुख्य दो कारण सामने हैं—(१) कोढ़ियों को दूसरों से अलग कर देना; (२) रहन-सहन और गांव की सफाई के सार्वत्रिक सुधार। जहाँ इन दोनों उपायों का अमल होने में देर हुई वहाँ उसके ज्यादा-से-ज्यादा सालों तक टिके रहने के प्रमाण मिलते हैं।

यूरोप में कोढ़ के घटने का जो समय था वही पश्चिमी गोलार्द्ध—उत्तर अमेरिका और वेस्ट इण्डीज में उसके फैलने का। यूरोप से आकर बसनेवाले और अफ्रिका के गुलाम इसके खास कारण थे। दक्षिण अमेरिका में स्पेनिश और पोर्तुगीज चढ़ाइयों के कारण उसकी पैठ हुई। आगे चलकर नीग्रो गुलाम और चीनियों की वजह से वह ज्यादा फैला।

पिछली सदी के आधे भाग में चीनी औपनिवेशिकों की मार्फत पैसिफिक टापुओं में उसका प्रवेश हुआ जान पड़ता है। हवाई टापू, न्यूकैलेडोनिया, लायल्टी, मार्क्वसास इत्यादि टापुओं में तो हाल में उसके पैर पड़े हैं। इन टापुओं में पहले उसका कोई नाम तक नहीं जानता था। न्यूकैलेडोनिया में १८६५ के करीब पहला कुष्ठरोगी आया। उसके बाद फिर तो दस वर्षों में ही कहीं-कहीं एक-चौथाई से ज्यादा लोगों को उसने अपना शिकार बना लिया। नारू में तो कोढ़ का फैलाव वर्तमान पीढ़ी के देखते-देखते हुआ है। वहां वह घुसकर धीरे-धीरे बढ़ रहा था, पर सन् १९१८ के इन्फ्लुयेंजा के आक्रमण के

बाद तो एकदम सपाटे से बढ़ने लगा। कुछ ही सालों में बीस फ़ीसदी आदमियों को उसने बदशकल बना दिया। हां रोग का स्वरूप सौम्य था। इसका प्रकोप तो शीघ्र ही रुक गया। अब वह कमी पर है।

आज अल्पाधिक प्रमाण में कोढ़ संसार के बहुतेरे देशों में पाया जाता है।

इस इतिहास से मालूम होता है कि कोढ़ कुछ देशों में हजारों वर्षों से अड्डा जमाये बैठा है। बीच-बीच में वह दूसरे हिस्से में जाता है, वहां वह लम्बे काल की संक्रामकता का रूप पकड़ता है और फिर घटता है। इतिहास और आधुनिक खोज से यह सिद्ध होता है कि यह रोग संस्कृति की विशिष्ट अवस्था और सामान्य रहन-सहन के सुधार की कमी-बेशी पर निर्भर रहनेवाला है। खासकर इसके फैलाव का खास कारण झुण्ड-के-झुण्ड मनुष्यों का स्थानान्तर करना है। रोगरहित देशों में जानेवाली सेना, गुलाम और मजदूरों की वजह से यह पसरता है। इसके पुष्ट होने अथवा नेस्तनाबूद होने के रुख का भी इतिहास से पता चलता है। समूचे समाज का रोग की रोकथाम के लिए सीधे पर आवश्यक उपाय काम में लाना, समूचे समाज का रोग के स्वरूप के बारे में सचेत होना और समूचे समाज की रहन-सहन की पद्धति के बारे में सुधार होना इसकी जड़ खोने की प्रधान शर्तें हैं।

दूसरा प्रकरण

कोढ़ का फैलाव

कोढ़ आज उष्ण कटिबन्ध* का रोग माना जाता है। और इस समय वह खासकर वहीं पाया जाता है। पर जैसा कि हम पहले प्रकरण में कह चुके हैं, उसके सिवा भी वह बहुत देशों में था और है। इस समय मध्य-अफ्रिका, हिन्दुस्तान, चीन और दक्षिण अमेरिका में उसका खासतौर से अड्डा है। अधिक-से-अधिक रोग-ग्रस्त हिस्से उष्ण कटिबन्ध में पड़ते हैं। पर शीत-कटिबन्ध में भी वह पाया जाता है। ग्रीनलैण्ड, आइसलैण्ड, नार्वे, बाल्टिक समुद्र के किनारे के देश, कनाडा—ये सभी शीत कटिबन्ध में हैं। उनमें आज भी कोढ़ मौजूद मिलता है। सम-शीतोष्ण प्रदेशों में वह कभी पूरी तौर से था। भिन्न-भिन्न कारणों से वहाँ आज कम हो गया है। तापमान, नमी और घनी जनसंख्या उसके फैलाव के लिए अनुकूल हैं। ये सब बातें उष्णकटिबन्ध के कुछ हिस्सों में पाई जाती हैं। उसके फैलाव में सामाजिक रीति-रवाजों का भी बहुत-कुछ हाथ है। विशेषत: विषयातिरेक और व्यभिचार कोढ़ के फैलने में मददगार होते हैं। अफ्रिका और पैसिफिक टापुओं के आदिनिवासियों और वैसे ही हिन्दुस्तान के पिछड़े हुए वर्ग में इस प्रकार से इस रोग के शिकार हुए लोग बहुतायत से पाये जाते हैं। चीन में, खासकर दक्षिण की ओर घनी बस्ती वाले उष्ण प्रदेश में, कोढ़ पाया जाता है। वहाँ गन्दी परिस्थिति में, तंग जगह में, निकृष्ट रहन-सहन में जिन्दगी बितानेवालों की संख्या अधिक है। अफ्रिका में नाइगेरिया और बेल्जियन कांगो और दक्षिण अमेरिका में ब्रेजिल में भी इन्हीं कारणों से उसका कोप रहा है।

---

* पृथ्वी का वह भाग जो कर्क और मकर रेखाओं के बीच में पड़ता है।

हिंदुस्तान में फैलाव

हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से में कोढ़ ने अपने हाथ-पांव फैला रक्खे हैं। आदिनिवासियों में वह पुराने जमाने से चलता आरहा है। उसकी रोक-थाम के खयाल से जातीय रीति-रिवाजों-संबंधी रूढ़ियाँ भी पाई जाती हैं। कुछ जातियों में, जहां उसका नाम-निशान भी नहीं था, इधर जंगलों की बस्तियों से मजूरी के लिए बड़े-बड़े शहरों में या उद्योग-केंद्रों में जाने पर उसका प्रवेश होगया। वहाँ उन्हें उसकी छूत लग जाती है और जब वे अपने स्थान पर वापस लौटते हैं तो उनसे जंगल के दूसरे अधिवासियों में वह फैलने लगता है।

बर्मा में इसका काफी जोर है। आसाम की दोनों घाटियों में यह पाया जाता है। बाहर के रोग-ग्रस्त भाग में जहाँ मजदूर बड़ी तादाद में भर गये हैं वहाँ इसका विशेष रूप से प्रकोप है। बिहार-बंगाल के मध्य में छोटा नागपुर और गंगा किनारे के सपाट प्रदेश के बड़े हिस्से में एक दक्षिणोत्तर पटिया की पटिया ही है, जिसमें गया, संथाल परगना, बीरभूम, पश्चिमी बर्दवान, मानभूम (पुलिया), बाँकुड़ा और मिदनापुर जिलों का समावेश है। यही पटिया नीचे की ओर उड़ीसा और मद्रास इलाके में बालासोर, पुरी, गंजाम और गोदावरी तक फैली हुई है। मद्रास का और दूसरा हिस्सा जहाँ इसका ज्यादा जोर है अरकाट और सेलम जिले हैं। त्रावणकोर, कोचीन और मलाबार में भी इसकी बहुतायत है। मध्यप्रांत के छत्तीसगढ़ और बरार-विभाग में भी ऊपर के जितना ही है। नैपाल से सटे हुए बिहार के हिस्से और संयुक्तप्रांत में भी, कम होने पर भी, है सर्वत्र। हिमालय में और काश्मीर में यह मुश्किल से मिलता है। इसका कारण आत्यंतिक हवामान और जंगली रहन-सहन होसकता है। पूर्वी हिंदुस्तान में कोढ़ की प्रवृत्ति सार्वत्रिक

न होकर मर्यादित—दो-चार केंद्रों में ही—रहने की थी। पर जबसे आमदरफ्त के साधन बढ़े और फैले, कल-कारखानों की बाढ़ हुई, जातियों का पारस्परिक व्यवहार बढ़ा, बड़ी तादाद में लोगों का इधर से उधर जाना आसान हुआ, तबसे अलिप्त हिस्से में भी रोगग्रस्त हिस्से की तरह इसके फैलने की सुविधा होगई।

तीसरा प्रकरण

रोग का दायरा

हिंदुस्तान में कोढ़ के दायरे को चार शीर्षकों में बाँटा जाना चाहिए—(१) स्थान, (२) रोग का प्रकार, (३) उम्र, (४) स्त्री-पुरुष-भेद।

स्थान

हिंदुस्तान में कोढ़ कहाँ कितना फैला है, यह जानने के लिए मर्दुम-शुमारी के अंकों के सिवा दूसरा साधन हमारे पास नहीं है। पिछले दस सालों में कोढ़-संबंधी जांच का काम हिंदुस्तान के काफी हिस्सों में हुआ है। १९२१ की मर्दुमशुमारी में कोढ़ियों की तादाद १,०२,००० थी। १९३१ में वह १,४७,९११ मिलती है। इससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिए कि रोग बाढ़ पर है। इतना ही कहा जासकता है कि पहली जाँच में कुछ ढिलाई रही होगी और पिछली जाँच चौकस हुई होगी। विशेषज्ञों की ओर से खास कोढ़ के संबंध में जो जाँच हुई, उसमें रोगियों की तादादं असली मर्दुमशुमारी की तादाद से कहीं तिगुनी तो कहीं बीस गुनी से ज्यादा पाई गई। मर्दुमशुमारी की संख्या से

हिंदुस्तान में वास्तविक कोढ़ियों की तादाद दस गुनी होगी यह मानने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। हिंदुस्तान में कम-से-कम १५ लाख कोढ़ी होंगे। कुछ पीड़ित प्रदेशों में रोगमान का परिमाण २ प्रतिशत है, कुछ थोड़े हिस्सों में ५ से ७ प्रतिशत और कुछ गाँवों में २० प्रतिशत तक पहुंचा हुआ है। प्रत्यक्ष जांच से यह संख्या मालूम की गई है।

रोग के प्रकार

कोढ़ के प्रकारों का विस्तृत वर्णन १० वें प्रकरण में करेंगे। मुख्य प्रकार उसके दो हैं : (१) सौम्य कुष्ठ (न्यूरल) अथवा असांसर्गिक प्रकार, (२) कालकुष्ठ (लेप्रोमटस) अथवा सांसर्गिक प्रकार।

अनुभव किया गया है कि हिंदुस्तान में आरम्भिक सौम्य प्रकार के—संसर्ग (छूत) न फैलानेवाले रोगी सैंकड़े ७०-७५ पाये जाते हैं। कालकुष्ठ के—संसर्ग फैलानेवाले २०-२५ प्रतिशत मिलते हैं।

उम्र

किस उम्र के कितने रोगी पाये जाते हैं, इस विचार का विशेष महत्त्व नहीं है। अधिक उपयोगी यह देखना होगा कि कोढ़ के आम तौर से किस उम्र में किस परिमाण में होने की सम्भावना रहती है। इसके लगने की उम्र की जांच के लिए एक संस्था में ४०० रोगियों के अंक एकत्र किये गये। उनमें हरेक की जबानी मालूम हुआ है कि पहले लक्षण ३० साल की उम्र होने के पहले दिखाई देने लगे। कोढ़ के आरम्भिक लक्षण शीघ्र ध्यान में नहीं चढ़ते। बहुत काल तक सुप्तावस्था (क्विसेंट स्टेट) में रहते हैं। संसर्ग लगने के बाद प्रथम लक्षण प्रकट होने में भी इतना ही लम्बा समय लगता है। इन बातों के विचार से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अधिक उदाहरण इसके बचपन में, युवावस्था में और प्रौढ़ावस्था के बिलकुल आरम्भ में होने के हैं। ३०

साल की उम्र के बाद रोग होने की सम्भावना बहुत कम रहती है। वह ५ प्रतिशत से अधिक नहीं होती।

दूसरी खास बात है कि बचपन में लगे रोग के ज्यादा जोर पकड़ने की अधिक सम्भावना रहती है और प्रौढ़ावस्था में लगा भी तो साधारणत: सौम्यस्वरूप का ही होता है।

स्त्री-पुरुष भेद

सारे कुष्ठग्रस्त देशों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में कोढ़ अधिक मिलता है। मामूली तौर से दूने का फर्क है। इस भेद की सफाई में कुछ लोगों का कहना है कि समाज में स्त्रियों की जाँच का काम दुष्कर है। उनके बारे में पूरी रिपोर्ट नहीं मिलती होगी। हिंदुस्तान में तो परदे का रिवाज होने से इस अनुमान के लिए बड़ी गुंजाइश है। सयुक्तिक दिखाई देने पर भी यह अनुमान सही नहीं है। उदाहरण के लिए न्यूगाइना को लीजिए। वहाँ तो स्त्री-पुरुष दोनों ही बिलकुल कम-से-कम कपड़े पहननेवाले हैं। वहाँ कोढ़ की जांच हमेशा अनावश्यक वस्त्र उतारकर की जाती है। उनमें भी स्त्रियों से पुरुष रोगियों की संख्या डबल पाई जाती है। और इसके सिवा वहाँ यह भी देखा जाता है कि पुरुषों से स्त्रियों में यह रोग अपेक्षाकृत सौम्य रूप लेता है। दूसरी जगहों का भी यही अनुभव है। इससे जान पड़ता है कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में उसका परिमाण बढ़ा हुआ है और स्वरूप भी तीव्र रहता है।

स्त्री-पुरुषों में भिन्न-भिन्न उम्र की दृष्टि से रोगमान का लेखा देखा जाय तो उसमें भी ऐसी ही विचित्रता पाई जाती है। बचपन में दोनों का लेखा एक-सा रहता है। पर युवावस्था आने पर अथवा उसके बाद के कुछ वर्षों में स्त्रियों में रोग का जोर ज्यादा होने की प्रवृत्ति रहती

है। उसके बाद तो पुरुषों का नम्बर ही बढ़ा मिलता है।

इन दोनों वर्गों में रोग के प्रमाण और तीव्रता में भेद होने की वजह क्या है, यह कहना मुश्किल है। सम्भव है शरीर-रचना के भेद, बाह्य परिस्थिति या रहन-सहन के भेद के कारण ऐसा होता हो। यह सर्वमान्य बात है कि कुछ रोगों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को संसर्ग-छूत लगने का डर रहता है। पर कोढ़ के संबंध में यह बात जितनी स्पष्ट है उतनी दूसरे रोग में नहीं पाई जाती।

सारांश, हिंदुस्तान में रोगमान हजार में तीन है। कहीं वह बीस से भी ऊपर पहुंचता है। इनमें से दो-तिहाई से तीन-चौथाई सौम्य प्रकार के रोगी हैं। एक-चौथाई से एक-तिहाई संसर्ग फैलानेवाले हैं। रोग साधारणतः बचपन में या युवावस्था में लगता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक (लगभग दूने) कुष्ठविकृत होते हैं। इसके सिवा उनमें स्त्रियों की अपेक्षा रोग का अधिक उग्र रूप धारण करने की ओर झुकाव रहता है।

चौथा प्रकरण

कोढ़ कैसे होता है ?

कोढ़ का नाम बहुत प्राचीन समय से सुना जाता है। अनेक देशों में वह फैला हुआ है। कहीं कम, कहीं ज्यादा, कहीं धीमा कहीं तीव्र; कहीं एक-सा हिसाब नहीं है। इसमें बड़े चढ़ाव-उतार हुए हैं। न सुधरों को छोड़ा, न पिछड़ों को बख्शा। कहीं संक्रामक रूप धारण करता है तो कहीं अड्डा जमाये बैठा मिलता है। इससे स

मन में स्वाभावतः यह प्रश्न उठना है कि यह रोग कैसे पैदा होता है ? इसकी उत्पत्ति के बारे में बहुत तरह के गलत-सही खयालात लोगों में पाये जाते हैं । इन लोककल्पनाओं में कुछ सत्य का अंश, एक-तरफापन और कुछ अतिशयोक्ति होना स्वाभाविक है । शास्त्रज्ञों ने इन सब कल्पनाओं की छानबीन करके इसका रोगोत्पत्तिशास्त्र (इटियालोजी) बना डाला है । सन् १८७१ में हनसेन के कुष्ठजंतु खोज निकालने के बाद इन विचारों में शास्त्रीयता आगई ।

कुछ लोक-कल्पनाएं

प्रायः पहली कल्पना है कि अमुक चीज खाने या न खाने से यह रोग होता है । कहीं लोगों की कल्पना है कि सरसों का तेल खाने से, कहीं मूंगफली का, कहीं कोयने का, कहीं और किसी चीज का तेल खाने से कोढ़ होता है । दूध और मांस इकट्ठे खाने से भी कोढ़ होने की बात सुनी जाती है । कुछ का कहना है कि जिस नमक पर छिपकली मूत गई हो उसे खाने से कोढ़ होजाता है । यूरोप में भी जे. हचिंसन ने सड़ी मछलियों के भोजन को कोढ़ का कारण बतलाया था । पर बाद को उसका मत बदल गया । जन्म से अर्थात् इस रोग से पीड़ित पिता-माता की कोख से जन्म लेने से यह रोग होने की कल्पना का भी जोर है । रोगी के सहवास से इसके लग जाने की कल्पना भी उतनी ही जोर-दार है । इन दोनों का आगे विस्तार से विचार किया गया है । उपदंश (गर्मी) रोग से कोढ़ का बहुत निकट-संबंध है, यह कल्पना भी पुरानी है । इन दोनों रोगों को एक ही 'मेह' नाम से पुकारते हैं । रजस्वला-काल में स्त्री-संग करने से इस रोग के होने की बात कहनेवाले लोग भी मिलते हैं ।

इनमें कुछ कल्पनाएं निराधार हैं । वे शास्त्रीय कसौटी पर नहीं

ठहरतीं। कुछ में सत्य का थोड़ा अंश है; उतनासा लेना चाहिए। उदाहरणार्थ, अमुक वस्तु खाने से कोढ़ होता है इसके लिए कोई सबूत नहीं है। पर अशास्त्रीय आहार कोढ़ फैलाने के लिए अनुकूल परिस्थिति पैदा करने का एक प्रमुख साधन जरूर है। यह मानने में कोई हर्ज नहीं है कि सूखी या नमकीन मछलियों के सेवन से इसके फैलने में अप्रत्यक्ष सहायता होती है। खयाल रहे कि आहार का रोग-प्रतिकार-क्षमता (रेजिस्टेंस) से संबंध है और प्रतिकार की शक्ति का रोग के फैलने से। परंतु किसी खास खाद्य से रोग होता है यह मानने के लिए शास्त्रीय आधार नहीं है। वैसे ही इस खयाल के लिए भी कोई आधार नहीं है कि सिर्फ चना, सिर्फ काजू इत्यादि खाने से रोग जाता रहता है। कुछ का मानना है कि अन्न के द्वारा रोग लगता है, बाहर की छूत से नहीं लगता। यह भी सही नहीं है।

सांसर्गिकता-संबंधी कल्पना

पुराने जमाने से इस रोग से सब जगह के लोग डरते और घृणा करते रहे हैं। वैसे ही इस रोग के संबंध में लोगों के जो खयालात जमे मिलते हैं उनसे जान पड़ता है कि इसके छुतहे होने की कल्पना लोगों में थी। इसे आनुवंशिक मानने की ओर भी लोगों का कुछ झुकाव था। पर उसमें निश्चितता नहीं थी, उसमें अज्ञान और झूठे डर का मिश्रण दिखाई देता है। इसकी वजह से कोढ़ियों के साथ बर्ताव करने में क्रूरता का रिवाज चलता आया दिखाई देता है। यह ठीक है कि इससे रोग के रुकने में कुछ मदद मिली, लेकिन बहुत बार रोगियों को व्यर्थ कठोरता का भी शिकार होना पड़ता है।

रोग के स्पर्शजन्य (छुतहा) होने की कल्पना थी, तथापि उसकी स्पर्शजन्यता साधारण स्वरूप की थी या तीव्र स्वरूप की, इसकी कल्पना

नहीं थी । इसका भी विचार नहीं हुआ था कि सभी रोगी सांसर्गिक दशा वाले होते हैं या कुछ । न इसीका विचार हुआ था कि रोग लगने का भय किसे, किस परिस्थिति में और कितना होता है ? कितनोंको रिवाजों का अतिरेक और कठोरता पसंद नहीं आती, इसलिए वे एकबारगी दूसरे सिरे पर जाकर उलटे यह प्रतिपादन करने लगते हैं कि यह रोग सांसर्गिक नहीं है । यों, लोकमत का कांटा इधर से उधर झूलता रहता है । पहले कह चुके हैं कि यूरोप के बहुतेरे देशों मे अनेक कोढ़ी-आश्रम थे । अकेले फ्रांस में उनकी संख्या दो हजार से ऊपर थी । पहले अंग्रेजों के यहां कोढ़ियों के संबंध में जो कायदे थे उनके संबंध में व्यवस्थित तथ्य मिलता है । सर जेम्स सिम्सन ने निम्न-लिखित वर्णन दिया है–"कोढ़ी को कुटुम्ब से अलग कर देते, विवाहित होने पर पत्नी को तलाक देदेना पड़ता, उसकी स्त्री को पुनर्विवाह करने की इजाजत थी । उसे कोढ़ी-आश्रम में लाकर रखने के पहले पादरी कुछ विधियां पूरी कराता और अंत्यविधि (मरणविधि) की भांति उसके शरीर पर मिट्टी भी डालता । कायदे की निगाह से उसे मरा मान लिया जाता । उसे एक खास तरह की पोशाक पहननी पड़ती । रास्ते से आते-जाते उसे एक खास तरह की आवाज करनी पड़ती । उसे होटलों, गिर्जों, कारखानों और दुकानों में घुसने की मनाही थी । छोटे बच्चों से कुछ भी लेने-देने पर रोक थी । वह सार्वजनिक जलाशयों का उपयोग नहीं कर सकता था । कोढ़ियों को छोड़कर दूसरों के साथ खाने-पीने पर प्रतिबंध था । आम रास्तों पर न चलने देकर संकड़ी गलियों में से आने-जाने की आज्ञा थी । रास्ते में बात करनी हो तो जोर से नहीं की जासकती थी । बाजार में कुछ खरीदना हो तो छड़ी के इशारे से बताना पड़ता । रहने का स्थान तो बस्ती से बहुत ही दूर होता था ।"

अफ्रिका की पिछड़ी हुई जातियों में भी ऐसे ही अथवा इससे भी कड़े रीत-रिवाज प्रचलित होने के सबूत मिलते हैं। वहां तो रोगी को जबर्दस्ती अलग कर दिया जाता है और वहीं उसे खाना पहुंचा दिया जाता है। सेनेगाल, आइवरीतट, कोमोरो बंदर और मादागास्कर में १९२५ तक यह रिवाज था। हिंदचीन में मर जाने पर रोगी को उसके बिछावन समेत जला देने की रीत है। गाड़ना हुआ तो ज्यादा गहरे गड्ढे में गाड़ते हैं। चीन और जापान में भी गांव से बाहर उनकी बस्ती बसाने की प्रथा है। जापान में 'केन' नियम के अनुसार प्रतिष्ठित कोढ़ियों तक को बहिष्कृत भिक्षुकों की पांत में जाना पड़ता है। अपने यहां मनुस्मृति में भी इसी तरह का उल्लेख मिलता है। उसकी मरण-क्रिया में नहीं जाना चाहिए, ऐसा लोकमत आज भी अपने यहां कहीं-कहीं दिखाई देता है। उन्हें 'पापरोगिणः' यह नाम देने में तिरस्कार की हद होगई है। इन बातों से इस रोग के संसर्गज होने की कल्पना और भय प्राचीन समय से जारी दिखाई देते हैं।

आनुवंशिकतासंबंधी कल्पना

पहले कहा जाचुका है कि सांसर्गिकता की भांति आनुवंशिकता (हेरिडिटी) संबंधी ख़याल भी पहले से चलता आया जान पड़ता है। चीन, जापान और अफ्रिका में कोढ़ के आनुवंशिक होने का खयाल आज भी मौजूद है। हिंदुस्तान में अगर किसी रोगी से कहिए कि उसे कोढ़ है तो अनेक बार यह उत्तर मिलता है कि मेरे पूर्वजों में यह किसी-को नहीं था। इस जवाब में यहां रोग के आनुवंशिक होने का खयाल समाया हुआ है।

यूरोप में भी सत्रहवीं, अठारहवीं, उन्नीसवीं सदी में सन् १८७१ तक इस रोग के आनुवंशिक होने का खयाल खूब फैला हुआ था। पिछली

सदी में इस खयाल ने ज्यादा जोर पकड़ा। आनुवंशिकता और स्पर्श-जन्यता इन दोनों उपपत्तियों में होड़-सी लगी हुई थी। कभी इसकी तो कभी उसकी प्रबलता होती थी। १८४८ में डैनियलसेन और बोअक सरीखे अधिकारी विशेषज्ञों ने जो पुस्तक लिखी उसमें इस आनुवंशिकता की उपपत्ति पर जोर दिया। इस खयाल को उत्तेजन मिलने का कारण लंदन में 'रायल कालेज आफ फिजीशियंस' की रिपोर्ट हुई। उसकी १८६२ की रिपोर्ट में यह फैसला दिया हुआ मिलता है कि यह रोग सांसर्गिक नहीं है और रोगी को बरबस अलग करने के लिए उपाय करने की आवश्यकता नहीं है। पर आगे मालूम हुआ कि यह निर्णय करने में गलती थी। इस रिपोर्ट के कारण प्रत्यक्ष रूप से यह फायदा तो हुआ कि उसकी वजह से दोनों मतों की अच्छी छान-बीन हुई। इन बातों की खोज की ओर जोर से ध्यान गया। उसके बाद तत्काल ही १८७१ में हनसेन ने सूक्ष्मदर्शक की सहायता से कुष्ठजंतु का होना सिद्ध किया। कुष्ठविज्ञान (लेप्रालोजी) में इस टक्कर की खोज अभी-तक नहीं हुई है।

आनुवंशिकता के विरुद्ध सबूत

कोढ़ आनुवंशिक है, संसर्गज नहीं, यह जो बीच के काल में प्रतिपादित किया गया उसका आधार क्या था, इसकी छान-बीन करने पर यह गलत साबित हुआ। कुछ का निरीक्षण मर्यादित क्षेत्र में था, इसलिए वे सही अनुमान नहीं कर सके थे। मालूम हुआ कि इनमें कुछको रोग के प्रत्यक्ष स्वरूप का अनुभव नहीं था। कोढ़ की आनुवंशिकता की कल्पना के विरुद्ध विशेषज्ञों के इकट्ठे किये हुए सबूत तीन भागों में बांटे जाते हैं:—

१ कुष्ठवेत्ताओं का अनुभव है कि कोढ़ की बाढ़ के

साथ-साथ पुरुष रोगी की वंश-वृद्धि की शक्ति नष्ट होने लगती है। तब यह असंभव है कि जो रोग वंशवृद्धि की शक्ति को नष्ट करता है वह स्वतः आनुवंशिक हो।

२—हवाई द्वीप, न्यूकैलोडोनिया और मार्कस्वास द्वीप में कोढ़ महामारी की तरह जोरों से फैला। सिर्फ बीस ही वर्षों की मीयाद में वहां रोग ऐसी विलक्षणता से बढ़ा कि आनुवंशिकता की कल्पना के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रह गई। इसके सिवा यूरोप-आगत निवासियों में भी उसका संसर्ग फैल गया, जिनके पूर्वजों की पीढ़ियों में उसका नाम-निशान तक नहीं था। ब्रिटिश गायना और दूसरे उष्णकटिबंध वाले प्रदेशों में ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

३—यदि यह रोग आनुवंशिक होता तो जहां इसने डेरा डाल दिया था वहाँसे उखड़ने या कम होने की बात सामने न आई होती। इसका एक मजेदार उदाहरण नार्वे के १७० आदमियों का है। इनमें कुछ को प्रत्यक्ष रोग का आरम्भ हाल ही में हुआ था, बाकी को संसर्ग लग चुका था और वे रोग लगने की तैयारी में थे। उन्हें नार्वे से अमेरिका के समशीतोष्ण प्रदेश में बसने को भेज दिया गया। हनसेन ने बाद को उनकी जांच की तो उनमें से एक के भी प्रत्यक्ष रोग नहीं मिला। उनके वंशजों में से किसीको भी होने का पता नहीं लगा।

इसकी अपेक्षा निर्णायक सबूत इधर कोढ़-आश्रमों में रोगियों के जन्मे हुए बच्चों का है। कोढ़ियों के पेट से हुए बच्चे जन्म से ही अलग करके पाले जाने पर निरोगी रहते हैं और उन्हें निरोगी संतान होती है, यह आज अनुभव से प्रत्यक्ष सिद्ध होगया है। हिंदुस्तान में तरनतारन (पंजाब) के कुष्ठ-निवास की रिपोर्ट और मादागास्कर के उदाहरण इस संबंध में अध्ययन करनेयोग्य हैं।

यहां एक बात बताने की जरूरत जान पड़ती है। यद्यपि कोढ़ आनुवंशिक नहीं हैं, तथापि उसकी रोग-ग्रहणशीलता (ससेप्टिबिलिटी) तो आनुवंशिक है। मतलब, कोढ़ी की संतान को कोढ़ होजाने का डर दूसरों की संतान की तुलना में अधिक होता है और यह उन्हें जन्म से ही मिलता है। इसलिए ऐसे बच्चों को रोग से बचाने की ज्यादा खबरदारी रखनी चाहिए। क्षय रोग का भी यही अनुभव है।

स्पर्शजन्यता के विषय में प्रमाण

आधुनिक विशेषज्ञों ने जो अनेक और सबल प्रमाण सामने रक्खे हैं उनसे इस रोग के स्पर्शजन्य होने और संसर्ग के कारण ही फैलने के विचार की पूरी पुष्टि होती है। ब्राउस, हिलिस, व्हाट, लेलायर के ग्रंथों और हवाई द्वीप की रिपोर्ट में इसके व्यवस्थित प्रमाण एकत्र किये गये हैं। अपने यहां तो इसके इतने प्रत्यक्ष उदाहरण हैं कि उनका उल्लेख करने की भी जरूरत नहीं है। तथापि कुछ चुने हुए उदाहरण देना उपयोगी होगा:——

१——एक मालगुजार का एक नौकर कोढ़ी था। शुरूआत के बारे में इसका किसीको पता नहीं था। वह गांव के पास के बाग में मोट चलाता और बाग की रखवाली करता। उसकी रोटी वहीं पहुंच जाती। वार-तेवहार वह घर भोजन के लिए जाता। बाग छोड़कर वह प्रायः कहीं जाता नहीं। मोट चलाना अथवा मालगुजार के छोटे बच्चे को लेकर बाग में खिलाना या रखवाली करना यह उसका क्रम था। आगे चलकर उसका रोग बहुत भयंकर होगया। मालगुजार के लड़के को भी लग गया। पर उस कोढ़ी का जो निज का लड़का था वह बिलकुल ठीक पाया गया।

२——किसी छोटे द्वीप में जब नये सिरे से रोग होता है तो स्पर्शजन्यता के अभ्यास के लिए अच्छे साधन मिलते हैं। कनाडा के एक खंड

के किनारे पर ट्रिकार्डी लेपर एसाइलम है। उसके पड़ोस में ही बेट्सी मैक्कार्थी नाम की स्त्री का जन्म हुआ था। वह सामने के प्रिंस एडवर्ड नाम के छोटे द्वीप पर रहती थी। उसकी जिंदगी के ५२ वें साल में उसे यह रोग फूटा। १८६४ में वह गुजर गई। रोग फूटने के पहले उसको पांच बच्चे होचुके थ। सबसे बड़ा लड़का २० वर्ष का था। ये सब लड़के रोगग्रहणशील (ससेप्टिबल) उम्र के थे। उनमें सबसे छोटी लड़की को छोड़कर बाकी के बच्चों को एकसाथ ही रोग ने घेरा। इसके बाद उसका देहान्त होगया। छोटी लड़की की जान डेल नामक आदमी से शादी हुई। जान डेल को रोग ने घेरा और उसकी दो लड़कियों को भी। एक आदमी ने चौथे बच्चे की सेवा-शुश्रूषा की थी, आगे चलकर उसे भी रोग लगा। उस स्त्री का जेम्स कमेरन नामक का दूसरा दामाद उसके सांसर्गिक बच्चों के साथ उठता-बैठता था, उसे भी रोग ने सन् १८७० में पकड़ा। इस प्रकार इस एक स्त्री की छूत से ५ लड़के, २ नाती और ३ दूसरे संबंधी रोगग्रस्त हुए। तबतक उस टापू में इसके सिवा और किसीको कोढ़ रोग नहीं था। घर में छूत फैलने का यह एक खास उदाहरण है। दामाद, मित्र और नौकर के बारे में तो आनुवंशिकता का कोई दूर का संबंध भी नहीं जोड़ा जासकता।

३—हिंदमहासागर में मारिशस के पास एक छोटा-सा रोड्रिग्यूज नामक टापू है। १८७५ से ८५ के बीच डियांगो नामक एक मल्लाह मारिशस से वहां बसने गया। तबतक उस टापू में किसीको कोढ़ नहीं था। ४–५ वर्ष बाद मल्लाह को कोढ़ फूटा। रोग के जोर पकड़ने पर वह एक पहाड़ी पर जाकर रहने लगा। तबसे सालभर के अंदर-ही-अंदर डियाँगो के मालिक के लड़के में रोग के लक्षण प्रकट हुए। यह लड़का नाव पर बराबर डियांगो के साथ काम करता था। फिर तो सन् १९२०

के भीतर इस टापू में २३ कोढ़ी होगये । उनमें १६ मालिक के रिश्तेदार थे और बाकी ७ डियांगो के संबंधी ।

४——रायल कालेज आफ फिजिशियंस, लंदन की सन् १८६२ की रिपोर्ट के आधार पर उस वक्त चलते हुए कुछ कुष्ठ-निवास बंद कर दिये गये । बाद में पता चला कि उन स्थानों में कोढ़ की वृद्धि हुई । तब फिर उन कुष्ठ-निवासों को चालू किया गया । इससे भी कोढ़ के स्पर्श-जन्य होने की बात साबित होती है ।

पति-पत्नी में संसर्ग-प्रमाण कम क्यों है ?

पारस्परिक संबंध के कारण रोग लगने के इतने उदाहरण मिलते हैं कि इसकी सांसर्गिकता——छूत के बारे में शंका की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती । फिर भी शंका की एक वजह है । मानिए, कोई रोगी है । उसके ४–५ बच्चों को भी रोग लगा । पर उसकी स्त्री और उन बच्चों की माँ रोगी पति से बराबर संसर्ग रखते हुए भी रोग से बची रहती है, ऐसे उदाहरण कई बार मिलते हैं । ऐसे उदाहरणों की अच्छी छानबीन किये बिना ही कितने ही लोग तय कर लेते हैं कि कोढ़ आनुवंशिक है, स्पर्शजन्य नहीं । पति से स्त्री को और स्त्री से पति को रोग लगनेवाले उदाहरण भी मिलते हैं । पर संतान को माता-पिता से रोग लगने के जितने उदाहरण मिलते हैं उतने पति-पत्नी में नहीं मिलते, यह ठीक है । एक को कोढ़ था और बढ़ चला था । बाल-बच्चे नहीं होते थे । उसने पहली स्त्री के होते भी एक दूसरी जवान लड़की से शादी की । पहली स्त्री ज्यादा दिनों से साथ रहने पर भी रोगी नहीं हुई, पर यह दूसरी स्त्री दो-तीन वर्षों में ही रोग का शिकार बन गई । इसका कारण यह जान पड़ता है कि इस आदमी का रोग जब सांसर्गिक दशा में पहुंचा तो उसकी पहली पत्नी की उम्र रोगग्रहणशीलता से ऊपर होगई थी,

इसलिए उसे छूत लगनी मुश्किल थी। दूसरी रोगग्रहणशील उम्र में थी और पति सांसर्गिक हालत में पहुंचा हुआ था। ऐसी परिस्थिति में ताबड़तोड़ छूत लगना आसान था।

कोढ़-रोगियों में बहुतेरे ऐसे होते हैं कि उनका रोग दूसरों को नहीं लगता। कुछ सांसर्गिक अवस्थावाले होते हैं, जिनसे वह दूसरों को लगता है। इसी तरह सबको रोग लगने का डर भी नहीं रहता। बचपन में, जवानी में, आम तौर से २५ वर्ष की उम्र के अंदर रोग लगने का अधिक अंदेशा रहता है। ३० साल की उम्र के बाद लगता भी है तो सैकड़े ५ को। पहले लोगों को इस मर्यादा की स्पष्ट कल्पना नहीं थी, इसी लिए इस तरह की गलत धारणा होती थी।

पांचवां प्रकरण
संसर्ग-प्रवेश

रोगी शरीर से प्रत्यक्ष स्पर्श होने पर दूसरे को लगनेवाले रोग को 'स्पर्शजन्य अथवा स्पर्शसंचारी या छुतहा' (कान्टेजियस) रोग कहते हैं। रोगी शरीर से निकले हुए मल, मूत्र, पसीना. थूक, लार, नेटा, उच्छ्वास वगैरह के द्वारा दूसरे को लगनेवाले रोग को 'संसर्गसंचारी अथवा सांसर्गिक' (इंफेक्शस) रोग कहते हैं। साधारणतः कोढ़ को स्पर्शजन्य कहा जाता है। अखीर की बहुत भयंकर अवस्था में पहुँचने पर वह सांसर्गिक भी होजाता है।

संसर्ग-प्रवेश-द्वार

वर्तमान समय में कुष्ठवेत्ता कोढ को स्पर्शजन्य मानते हैं। पर शरीर

में संसर्ग पहुँचने का निश्चित द्वार कौनसा है, यह आज भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता। इस रोग के सूक्ष्म जंतु होते हैं। उनके शरीर में घुसते ही शरीर की पेशियां (सेल्स) उनसे झगड़ती हैं। जंतु-प्रवेश और उनके साथ होनेवाली पेशियों की प्रतिक्रिया के कारण शरीर में कोढ़ के लक्षण पैदा होते हैं। कोढ़ पैदा करनेवाले सूक्ष्म जंतु * को 'कुष्ठ यष्टि जंतु' अथवा लौकिक भाषा में 'हनसेन के यष्टि जंतु' (लेप्रा बसिलस) कहते हैं। वह अतिसौम्य विष वाला होता है। वह मानव-शरीर में घुस सकता है, और घटक के सारे पेशी जालों (टिश्यू) में पसर सकता है। पर इसकी वजह से खयाल में आनेलायक कोई भी लक्षण एकबारगी पैदा नहीं होता। संसर्ग अप्रकट अथवा ध्यान में न आनेलायक हालत मे बहुत वर्षों तक रहता है। भयंकर अवस्था में पहुंचे हुए कोढ़ी तक में समझ में आनेलायक लक्षण कम ही मिलते हैं। समाज में तो साधारणतः वह निरोगी माना जाता है। पर वह अपने सहवास में आनेवालों में लगातार रोग फैलाता रहता है। इस प्रकार रोगसंसर्गी मनुष्य में भी बाहरी लक्षण सहजमहज नहीं दिखाई देते। संसर्ग लगने के बाद अनेक वर्षों तक तो संसर्ग लगनेवाले को पता तक नहीं चलता। इस दुहरे कारण की वजह से संसर्ग कब और कैसे लगा और किस मसर्ग-द्वार से, यह तय करना अशक्य-सा होता है।

---

* सूक्ष्मजंतु (बैक्टिरिया) एकपेशीमय होते हैं और बहुत जल्दी बिखर जाते हैं। इनके चार उपभेद हैं—(१) गोलजंतु, (२) यष्टिजंतु, (३) सूत्रजंतु और (४) सर्पिलजंतु। ये अपने नाम के अनुसार गोल, बारीक तिनके की तरह के, सूत की तरह के और सांप की आकृति के होते हैं। इसके फिर रोगोत्पादक और अरोगोत्पादक भेद हैं। कुष्ठजंतु यष्टिजंतु वर्ग के होते हैं। हनसेन ने १८७१ में इसकी खोज की थी।

रोग की अप्रकट अथवा बिलकुल आरम्भिक अवस्था जानने में उपयोगी साधन सामान्यतः होनेवाले प्रयोग, जंतुसंवर्धन (कल्चर) और रक्तजल (सीरम) के द्वारा प्राप्त होते हैं। पर कोढ़ में वह भी काम में नहीं आते। क्योंकि कुष्टजंतुओं का मनुष्य-शरीर के बाहर आज भी कृत्रिम रीति से संवर्धन नहीं होपाया। प्रयोग करनेयोग्य प्राणियों के शरीर में लस घुसाकर यह रोग पैदा नहीं किया जासका। प्रकट बाहरी लक्षणों से अथवा सूक्ष्म जंतुशास्त्र (बैक्टिरियालाजी) की सहायता से जब रोग का निदान (रोग-परीक्षा) नहीं होपाता, तब रक्तजल के द्वारा परीक्षा करके रोग-निर्णय किया जाता है। पर कोढ़ के लिए ऐसी कोई रक्तजल विषयक परीक्षा भी अबतक आविष्कृत नहीं हुई।

रोग अथवा जख्म के कारण शरीर के पेशीजाल (टिश्यू) में जो रचनात्मक परिवर्तन होता है उसे रुग्णक (लीजन) कहते हैं। उपदंश और दूसरे रोगों में संसर्ग लगे हुए स्थान में ही पहला मुख्य रुग्णक पैदा होता है। कोढ़ में रोग-संसर्ग-स्थान में ही पहला चकत्ता पैदा होने के प्रमाण मिलते हैं। पर साधारणतः अधिक उदाहरणों में संसर्ग के सारे शरीर में फैल जाने पर उसके परिणामस्वरूप पहला चकत्ता उठता है। यह प्रायः पहले फोड़ा हुए या जख्मी हुए स्थान पर ही उठता है।

उपर्युक्त कारणों से निश्चित संसर्ग-द्वार बतलाना मुश्किल है। तथापि विकुपित अवस्था (प्रगत) के रोगी के सहवास में आनेवाले के श्लेष्मल त्वचा के (म्यूकस मेम्ब्रेन) व्रण (घाव) अथवा खरोंच लगे हुए हिस्से से कुष्ठजंतु शरीर में घुसते हैं, यह मानने के लिए भरपूर प्रमाण मौजूद हैं। छोटे बच्चों के नाक कुचरने, कंडु रोग अथवा कृमिदंश से परेशान होकर शरीर खुजलाने, शरीर पर के सादे या पीप वाले घाव वगैरा संसर्ग पहुंचाने के बिलकल आसान मार्ग हैं।

कोढ़ी के उपयोग में आनेवाले जलाशय में स्नान-पान करने से रोग पैदा होने का पक्का प्रमाण अभी नहीं मिला है। कृमिदंश से रोग फैलने के बारे में भी कोई माननेवाला आधार नहीं है। पर यह जान पड़ता है कि बहुत बार कुष्ठजंतु को इधर से उधर करने में कृमि से मदद मिलती है। कोढ़ी के रक्त से पुष्ट हुई मक्खियां, खटमल और जूं के अंगों पर कुष्ठजंतु मिले हैं। कोढ़ी के बिछौने पर सोने से या उसके कपड़ों का व्यवहार करने से रोग लगने के उदाहरण दिये गये हैं। कोढ़ी की चटाई पर नंगे पांव चलने से अथवा उसके खाली किये हुए घर में रहने से रोग लग जाने के उदाहरण हैं। इससे यह मानने की ओर प्रवृत्ति है कि मनुष्य-शरीर छोड़ने के कुछ समय बाद तक ये जंतु जिंदा रहते हैं। रोगी शरीर के बाहर उसके जीवित रहने की शक्ति नाममात्र की ही होती है।

प्रत्यक्ष संघटनात्मक स्पर्श के कारण संसर्ग फैलता है, यह सिद्ध करनेवाले भरपूर और सबल प्रमाण मौजूद हैं। स्पर्श जितना निकटस्थ और दीर्घकालीन और रोगी जितना अधिक सांसर्गिक और संसृष्ट, जितना अशक्त अथवा नाजुक उम्र का होता है, रोग लगने की संभावना उतनी ही ज्यादा रहती है।

रोगियों के दो प्रकार—सांसर्गिक और असांसर्गिक

कोढ़ियों में सभी रोगी संसर्ग फैलानेलायक हालत को पहुंचे हुए नहीं होते। साधारणतः माना तो यह जाता है कि होंगे तो वे सांसर्गिक ही, नहीं तो रोगी ही न होंगे। कुछ सांसर्गिक होते हैं कुछ असांसर्गिक, कुछ आज असांसर्गिक होने पर भी आगे चलकर सांसर्गिक होजाते हैं, कुछ आज सांसर्गिक हैं पर आगे फिर उनके असांसर्गिक होने की संभावना है। ये बातें साधारण लोगों की मुश्किल से समझ में आने-वाली होने पर भी जरूरी हैं। इसके कारण रोग का स्वरूप समझने

और रोगी से व्यवहार करने में सुविधा होती है।

कोढ़ियों में से थोड़े (एक-चौथाई) रोगी ही सांसर्गिक होते हैं। इधर हिंदुस्तान में जो जांचें हुई हैं उनसे पता चलता है कि १० रोगियों में १ अतिसांसर्गिक, १ साधारण सांसर्गिक और ७-८ असांसर्गिक हालत वाले होते हैं। त्वचा अथवा नाक की श्लेष्मल त्वचा की सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा योग्य रीति से फिर-फिर निश्चित अवधि पर अनेक बार परीक्षा करने पर कुष्ठ-जंतु न पाये जायें तो रोगी असांसर्गिक समझा जाता है। इसकी यह सर्वमान्य कसौटी है। रोगी सांसर्गिक है या असांसर्गिक, यह सिर्फ देखने से अथवा बाहरी परीक्षा से हमेशा तय नहीं किया जा सकता। इसके लिए सूक्ष्मदर्शकयंत्र (माइक्रस्कोप) की जरूरत पड़ती है।

कोढ़ के मुख्य दो प्रकार हैं। उनमें कालकुष्ठ (लेप्रोमटस्) प्रकार के रोगी हमेशा रोग फैलानेवाले होते हैं। ऐसे रोगी की बाहरी त्वचा (एपिर्डमिस) की खरोची हुई झिल्ली पर कुष्ठ-जंतुओं का दल-का-दल बहुत बार पाया जाता है। नेटे और थूक में, लार में, विशेषतः रोगी के छींकने, खांसने अथवा जोर से सांस लेते हुए बाहर निकलनेवाले खखार वगैरा में जंतु कसकर भरे रहते हैं। कुष्ठ-प्रतिक्रिया (लेप्रारीएक्शन) होने पर नाक में की और चमड़ी पर की गांठें फूटकर बहने लगने की अधिक संभावना रहती है। ऐसे स्राव में जंतु खूब ही होते हैं और संसर्ग—छूत—लगने का भारी भय रहता है।

रोगप्रतिकार–क्षमता (रेजिस्टेंस)

रोग लगेगा या नहीं अथवा लगेगा तो कितना लगेगा, यह तय करने का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है संसर्ग लगेहुए (संसृष्ट) मनुष्य की रोगप्रतिकार-शक्ति। बच्चों की प्रतिकार-शक्ति विशेष करके जन्म

के बाद कुछ वर्षों तक बहुत कम होती है। छोटे बच्चों में जितनी जल्दी-जल्दी और जिस उग्र रूप में संसर्ग लगता है, उससे यह बात भलीभांति सिद्ध होती है। लेप्रालिन परीक्षा से भी यह बात प्रकट होती है। सहचारी रोग, हीन पोषण और आरोग्य के प्रतिकूल रहन-सहन के कारण प्रतिकार-शक्ति क्षीण होती है। वैसे ही जवानी (प्यूबर्टी), गर्भ-धारण और दूध पिलाने के दिनों (लक्टेशन) में भी शरीर पर पड़नेवाले जोर की वजह से भी प्रतिकार-शक्ति में कमी होती है। आरोग्य का प्रतिकूल वातावरण और रहन-सहन से बहुत निकट का संबंध है। उसी तरह भिन्न जाति अथवा वर्ग के रक्त-संबंध का भी नजदीकी ताल्लुक होता है। आगे १७वें प्रकरण में इसका अधिक विचार किया गया है।

संसर्ग की शक्याशक्यता

कोढ़ के सांसर्गिक होने पर भी उसका संसर्ग सौम्य प्रकार का होता है। बहुतेरे रोगी असांसर्गिक होते हैं। थोड़े स्पर्शसंचारी होते हैं। उनसे भी थोड़े संसर्गसंचारी होते हैं। संसर्ग ऊपरी और हलका-सा हुआ तो कुछ उपाय किये बिना ही उत्तम आरोग्य के कारण उसके अपनेआप जाने की संभावना रहती है। संसर्ग साधारणतः बहुत समय तक अप्रकट स्थिति में रहता है; बढ़ने लगने पर भी धीरे-धीरे यथावकाश बढ़ता है। लक्षण भी एकदम बहुत कुछ प्रकट नहीं होते। इसीलिए कोढ़ को जीर्ण (क्रानिक) और गुप्त संचारी (इंसिडियस) रोग कहा जाता है। वह ज्यों-त्यों रोगी की बलि भी नहीं लेता। (नानफेटल)

एक खास उम्र और हालत में रोग लगने का डर ज्यादा रहता है। उत्तम प्रतिकार-क्षमता होने पर बाहरी प्रभावक संसर्ग होने की संभावना कम रहती है। कोढ़ी की संतान को अलबत्ता दूसरों की

अपेक्षा संसर्ग लगने का डर ज्यादा रहता है।

प्रत्यक्ष संघटनात्मक और दीर्घकालीन संसर्ग हुए बिना साधारणतः ज्यों-त्यों रोग नहीं लगता। विशेषतः शरीर कहीं से कटा, खुर्चा, खुला हुआ घाव और गीली त्वचा होने पर संसर्ग शीघ्र लगता है। मामूली तौर से बराबर कुछ दिनों का संसर्ग हो और वह भी बहुत निकट का, तब रोग लगता है।

पर विशेष परिस्थिति में वह हर किसीको होसकता है। मनुष्य-जाति का इस रोग सरीखा दुश्मन शायद ही कोई और होगा। इसलिए सदा इससे सावधान रहना चाहिए। कोढ़ का संसर्ग न होने देने के लिए टीका लेने का उपाय नकली जैसा है। अतः सांसर्गिक रोगी से अलग रहना चाहिए और स्वास्थ्य अच्छा रखना चाहिए। तभी संसर्ग टलने की अधिक संभावना है।

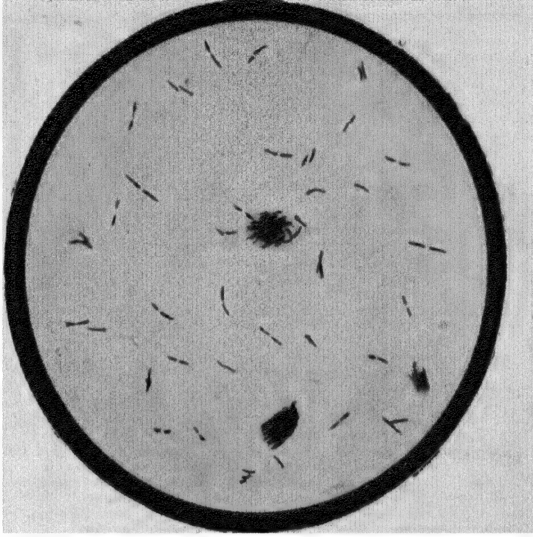
छठवां प्रकरण

कुष्ठ-जंतु

कुष्ठजंतु अथवा हनसेन के यष्टिजंतु २ से ८ माइक्रोन * लम्बाई और ०.५ से १ माइक्रोन मोटाई के होते हैं। इसके पेशीद्रव (प्रोटोप्लाज्म) में रंग धारण करनेवाले कण होते हैं। ये कण कभी अनेक और बहुत छोटे होते हैं। कभी एक ही बड़ा कण होता है। वह बीच

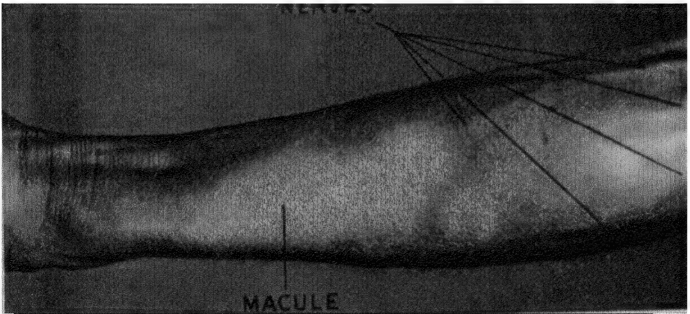
* सूक्ष्मदर्शक यंत्र के काम में आनेवाला एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म माप। मीटर का दस लाखवां भाग अथवा इंच का २५००० वां भाग। V—इसका निशान है।

चित्र १



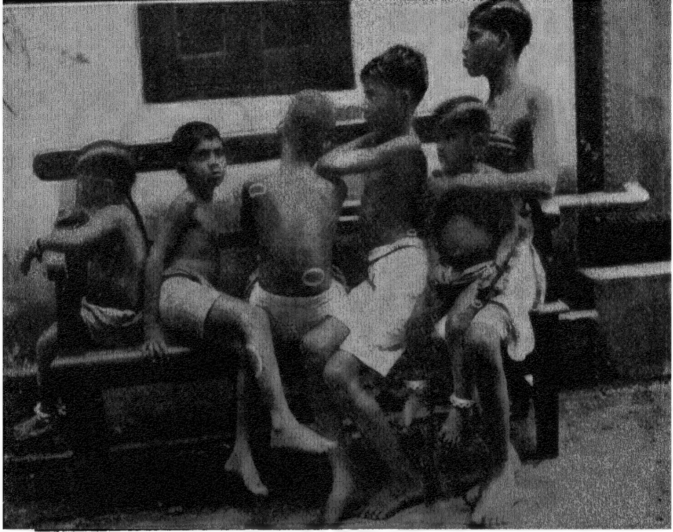
कुष्ठजंतु (सूक्ष्मदर्शकांतून)।

चित्र २

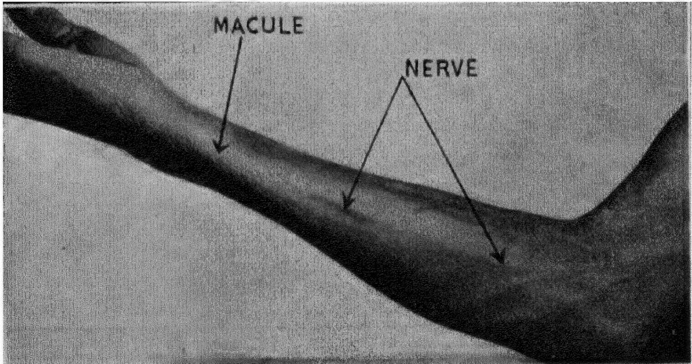


चट्टा व त्याशीं संबद्ध घट्ट मज्जातंतु।

चित्र ३



महारोगाची स्पर्शजन्यता, वडील भावानें ५ भावांस रोगी केलें।



चित्र ४

चट्टा व त्याशीं संबद्ध घट्ट मज्जातंतु।

में या सिरे पर होता है। कालकुष्ठ के रुग्णकों में अनेक जंतु मिलते हैं। सौम्यकुष्ठ (न्यूरल लेप्रसी) में बहुत ही कम और बड़ी खोज के बाद मिलते हैं। कोढ़ के दोनों प्रकारों में भारी भिन्नता के कारण इस जंतु के दो उपभेद होने के बारे में कुछ ने मत प्रकट किया है। पर वह ठीक नहीं है। कारण फिर संसर्ग न होकर सौम्य कुष्ठ ही कालकुष्ठ रूप धारण करता है। परिवर्तन जो होता है वह जंतु में नहीं होता। जंतु और पेशीजाल (टिश्यू) की पारस्परिक प्रतिक्रिया की समतुलनता में होता है। कालकुष्ठीय रुग्णक में कुष्ठजंतु काफी पाय जाते हैं। कुष्ठविकृत सूजी हुई पेशी में जमा होकर रहने की ओर उनका विशेष झुकाव होता है। क्षयजंतु और कुष्ठजंतु को अलगाने में यह विशिष्ट लक्षण उपयोगी होता है। ये दोनों जंतु दिखने में और रंग-धारण-गुण (स्टेनिंग रिएक्शन) में समान होते हैं। सूक्ष्मदर्शक के एक क्षेत्र में (फील्ड) क्षय-जंतुओं की अपेक्षा कुष्ठजंतुओं की संख्या अधिक होती है। वे पुंज-के-पुंज एक जगह जमा रहते हैं। क्षयजंतु के मुकाबले में कुष्ठजंतु कम टेढ़े—अधिक सरल दिखाई देते हैं। साधारणतः क्षयजंतु फुफ्फुस में पाये जाते हैं। कुष्ठजंतु त्वचा, श्लेष्मल त्वचा और मज्जातंतु (नर्व) में पाये जाते हैं! इन भेदों के कारण इन दोनों जंतुओं को अलग-अलग पहचाना जाता है। असली निर्णायक कसौटी के लिए गिनीपिग (सफेद चूहे जैसे जीव) के शरीर में जंतु को प्रत्यक्ष इंजेक्ट करते—घुसाते हैं। क्षयजंतु उसके शरीर में बढ़ते हैं और रोग पैदा करते हैं। वैसे कुष्ठजंतु नहीं बढ़ते। झील नीलसन की रीति से रंगने पर कुष्ठजंतु क्षयजंतु की अपेक्षा कुछ कम अम्लस्थिर (एसिड फास्ट) पाया जाता है।

कुष्ठजंतु-संवर्धन (कल्चर) का प्रयोग अभी संशोधन-अवस्था में है। प्रयोग करनेयोग्य प्राणियों के शरीर में कुष्ठ संचार करके

रोग का विकास करने की कोशिश में भी कामयाबी नहीं हुई है।

कुछ कार्यकर्त्ताओं ने यह मत प्रकट किया है कि कुष्ठजंतु और मूषक-कुष्ठजंतु (बसिलस लेप्रा म्यूरिस) एक ही हैं। पर यह सही नहीं है। (कोढ़ सरीखा एक रोग चूहों को भी होता है। एक प्रकार की भैंस में भी ऐसा ही रोग मिलता है। उन्हें मूषककुष्ठ और महिषकुष्ठ कहना चाहिए। परंतु इन रोगों का मानव कुष्ठ से कोई ताल्लुक नहीं है।) चूहे के शरीर में मानव कुष्ठ के जंतु प्रवेश कराने से रोग पैदा नहीं होता। पर मूषक-कुष्ठ जंतु घुसाने से सौ में सौ चूहों को होता है। ये ये दोनों जंतु एक नहीं हैं, तथापि कुछ बातों में समता है। आकार और रंग-धारण-गुण दोनों में एकसा ही है। दोनों के ही बारे में व्यवस्थित जंतु-संवर्धन अथवा बाअसर टीका (इनाक्यूलेशन) अभीतक तैयार नहीं होपाया है।

यह विचारने की बात है कि मनुष्य के क्षयरोग की जड़ निचली श्रेणी के जीवों के उसी प्रकार के रोग से है। पर मानव-कुष्ठ-जंतु की जड़ कहांसे आई? या किसी ऐसे प्राणी से उसकी जड़ निकली थी जो आज खत्म होगया है? यह खोज का विषय है।

सातवां प्रकरण

कुष्ठरोग की शुरुआत

कुष्ठ-जंतु का स्वरूप और शरीर में प्रवेश करने की उसकी रीति समझ लेने के बाद वह वहां अप्रकट स्थिति में कितने समय तक रहता है, रोग का प्रथम उद्भव कैसे होता है, जंतु शरीर में किस-किस अवयव में रुग्णक पैदा करता है, इन बातों का विचार करना आवश्यक होजाता है।

अप्रकट अवस्था का समय (लेटंट पीरियड)

संसर्ग-प्रवेश होने के बाद से प्रत्यक्ष रोग-लक्षण प्रकट होनेतक में बहुतसा समय चला जाता है। पर उसकी अवधि निश्चित नहीं होती। इस समय को रोग-बीज-पोषण-काल (इन्क्युवेशन पीरियड) कहने की अपेक्षा अप्रकट अवस्था का काल कहना अधिक शास्त्रसम्मत होगा। छः हफ्ते के बच्चे के सारे शरीर पर रुग्णक देखने में आये हैं। चार और सात महीने के बच्चे के शरीर पर भी चकत्ते पाये जाने के सबूत हैं। दूसरी ओर कुछ रोगियों में रोग-संसर्ग के बाद बीस साल तक कोई भी लक्षण सामने नहीं आये। एक रोगी के शरीर पर सिर्फ एक छोटा-सा चकत्ता बाईस साल तक उतना-का-उतना बड़ा बना रहा। यह समय संसर्ग के प्रमाण और संसर्ग लगे हुए की प्रतिकार-क्षमता पर निर्भर रहता है। वह कभी तो कुछ महीनों का, तो कभी कुछ वर्षों का होता है। आम तौर से तो तीन वर्षों के आसपास होता है।

प्रथम उद्भव (आनसेट)

साधारणतः देखा जाता है कि कोढ़ की पहली शुरुआत बिलकुल धीर गति से क्रम-क्रम से होती है। बिलकुल पहले दिखाई देनेवाले लक्षण दो तरह के होते हैं। (१) त्वचा पर एक-दो छोटे-से चकत्ते दिखाई देते हैं। उनमें संवेदना (सेंसेशन) का परिवर्तन कभी होता है, कभी नहीं। (२) पीठ के हिस्से के मज्जातंतुओं में खराबी पैदा होती है। हाथ-पाँव में अथवा चकत्तों पर चुनचुनाहट होती है, झुनझुनी उठती है या जड़ता अथवा शून्यता जान पड़ती है। ये लक्षण बहुधा स्थानबद्ध स्थान विशेष पर होते हैं। ऐसे स्थानों पर पहले का कोई घाव या चोट होने की बात भी साधारणतः पाई जाती है।

तथापि कभी-कभी शीघ्र परिणामकारी आकस्मिक स्वरूप की शुरु-

आत होती है। तब सारे रुग्णक उमड़ आते हैं। इस परिस्थिति में वे सब थोड़े ही समय में फूट जाते हैं। उनमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के लक्षण अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। कभी गांठें भी निकल आती हैं।

रुग्णकों का शरीर में विभाग

कोढ़ सारे शरीर का रोग है। खासकर त्वचा, कुछ श्लेष्मल त्वचा और पृष्ठभाग के मज्जातंतु (पेरिफीरल नर्व) में इसकी वजह से खराबी आती है। विकुपित अवस्था में करीब-करीब सभी अवयव (आर्गन) और पेशीजाल (टिश्यु) कुष्ठविकृत हुए रहते हैं।

इसमें उल्लेखनीय अपवाद मध्यवर्ती मज्जासंस्था (सेंट्रल नर्व सिस्टम) होती है। वह शायद ही विकृत हुई मिलती है। मज्जा-रज्जू (स्पीनल कार्ड) की कड़ी में जो खराबी पैदा होती है वह सौम्यकुष्ठ के कारण होनेवाले पृष्ठीय मज्जातंतु के दाह का (न्यूराइटिस) अप्रत्यक्ष परिणाम होता है।

कुष्ट-संसर्ग के कारण स्नायुओं (मसल्) में प्रत्यक्ष विकृति नहीं होती है। संलग्न मज्जातंतु के कारण उसमें अप्रत्यक्ष पोषणविषयक (ट्राफिक) खराबी होती है।

हृदय भी प्रत्यक्ष रूप से विकृत नहीं होता। कुष्ठ-ज्वर अथवा मिश्र -संसर्ग के कारण फैलनेवाले जहर से उसमें विकलता पैदा होती है।

लघु रक्तवाहिनी—रक्तधमनियां (ब्लड वेसल) विशेषतः कुष्ठ-विकृत भाग की सूक्ष्म शाखा बहुत विकृत हुई होती है।

विकुपित दशा में पहुंचे हुए रोगी में थोड़े प्रमाण में फुफ्फुस (लंग्ज) में संसर्ग पहुंचता है।

अन्नमार्ग (गस्ट्रो इंटेस्टिनल ट्रैक्ट) और मूत्रमार्ग (यूरिनरी ट्रैक्ट) जहांतक जाना गया है सुरक्षित दिखाई देते हैं। विषजन्य रक्तदोष

के कारण (टाग्जिमिया) उत्पन्न होनेवाली अप्रत्यक्ष विकलताभर होती है।

शवच्छेदन (पोस्टमार्टम) में यकृत (लीवर), प्लीहा--तिल्ली (स्प्लीन) हमेशा कुष्ठग्रस्त पाये जाते हैं। बढ़े हुए रोग में उसके प्रकट चिन्हों में एक चिन्ह उसका आकार बढ़ा हुआ भी पाया जाता है। विशेषतः कुष्ठ-प्रतिक्रिया (लेप्रारिएक्शन) में यह बखूबी देखने में आता है। पर इस परिवर्तन का प्रकट रोग-लक्षण की दृष्टि से (क्लिनिकली) बहुत उपयोग नहीं होता। मिश्र संसर्ग में पोषणविषयक खराबी भी पैदा हुई पाई जाती है।

कालकुष्ठ में वीर्यपिंड या वृषण (टेस्टीज) थोड़े-बहुत प्रमाण में विकृत होते हैं। वह विकार दोनों गोलियों के मध्यभाग में और साथ ही उनके अंदरूनी हिस्से में भी होता है। अखीर-अखीर में तो यह अवयव श्वेततंतु (फायब्रस) का पेशीजाल ही बन जाता है।

कालकुष्ठ के सब रोगियों में और सौम्यकुष्ठ के कुछ रोगियों में रसग्रंथि (लिंफ नोड्स) कुष्ठ-विकृत होती है। आकार में फर्क न पड़कर भी ग्रंथि की मोटाई बढ़ जाती है। इस ग्रंथि की छीलन (सेक्शन) लेने से भीतरी गाभा और अस्थिमज्जारज्जु (मेऽयुलरी कार्ड) पीली-सी दिखाई देती है। क्षय रोग में वह ऐसी नहीं पाई जाती। इससे कुष्ठ रोग की आसानी से परख होजाती है। पर बहुत बार दोनों रोग एक ही साथ होने की संभावना होती है। कोढ़ की जांच करने में इस फूली हुई रसग्रंथि के छीलन की या सूई घुसाकर खींचे हुए द्रव्य की परीक्षा करना उपयोगी होता है। कुष्ठ-संसर्ग त्वचा के रसस्थान (लिंफ स्पेसेस) से रसवाहिनियों द्वारा ग्रंथि तक ऊपर पसरता है। यह ग्रंथि छनने अथवा फिल्टर का काम करती है। उससे रोग फैलना बंद होजाता है, अथवा रुकावट तो हो ही जाती है।

आठवां प्रकरण

त्वचा के रुग्णकों का स्वरूप-लक्षण

पहले कह चुके हैं कि कोढ़ सारे शरीर में होनेवाला रोग है। उससे प्रत्यक्ष--बाहरी--अथवा अप्रत्यक्ष--भीतरी--सभी अवयवों और पेशीजाल में खराबी आती है। फिर भी उसके संसर्ग से प्रकट-लक्षण-दृष्टि से (क्लिनिकली) अथवा सूक्ष्म शरीरशास्त्र-दृष्टि से (हिस्टालाजिकली) परीक्षा करने योग्य परिवर्तन खासकर त्वचा, श्लेष्मल त्वचा और पृष्ठीय मज्जातंतु में उत्पन्न होता है। कोढ़ की सौम्य अथवा मज्जा-तंतु संबंधी कुष्ठ और कालकुष्ठ ये दो किस्में हैं। इनमें खास तौर से मज्जातंतु और त्वचा में क्रम से आगे-पीछे विकार पैदा होता है। तथापि बहुतेरे रुग्णकों में दोनों में ही संसर्ग पहुंचा हुआ होता है। कोढ़ के हमेशा मिलनेवाले नमूनेदार (टिपिकल) उदाहरणों में त्वचा और मज्जातंतु एकसाथ ही विकृत हुए पाये जाते हैं। अतः त्वचा और मज्जातंतु एक गुट मानकर अभ्यास करने में आसानी रहेगी। पहले त्वचा के रुग्णकों के स्वरूप-लक्षणों का विचार किया जाता है।

त्वचा की रचना

त्वचा में कोढ़ का संसर्ग फैलने की रीति को स्पष्ट बतलाने के लिए त्वचा की रचना के कुछ अंगों का वर्णन पहले करना उपयोगी होगा।

त्वचा शरीर पर का बाहरी आवरण--परदा है। बाहरी त्वचा (एपिडर्मिस) और भीतरी त्वचा (डर्मिस) उसके ये दो हिस्से हैं। इनमें बाह्य त्वचा बाहरी परदा होने से मोटी और कड़ी होती है, वह पेशी की अनेक तहों से बनी हुई होती है। उनमें से ऊपर की तह की पेशी चपटे और सींग सरीखे कडे पदार्थ की बनी हुई होती है। वह छीजकर

धीरे-धीरे गल जाती है। उसकी जगह नीचे की तह की नई पेशियों से पूरी होती है। ऊपर की तह रवेदार और अधिक साफ होती है। नीचे की तह को मल्पीगियन * तह कहते हैं। बाहरी त्वचा में मज्जातंतु अथवा रक्तवाहिनियां (ब्लड वेसल्स) नहीं होतीं। उसकी पेशियों का पोषण निचले हिस्से की रक्तवाहिनियों से झरनेवाले रस (लिंफ) से होता है। इस त्वचा से भीतरी भाग की रक्षा होती है। इसका भीतरी त्वचा की ओर का हिस्सा सर्प की आकृति में मुड़ा होता है और उसके बिलकुल नीचे की तह में एक तरह का काले-से रंग का द्रव्य होता है। वह झरनेवाले रस के कारण वहाँसे बहा जाया जाता है। उसकी कमो-बेशी पर आदमी का गोरा या कालापन निर्भर रहता है। बाह्य त्वचा के पृष्ठभाग की चपटी पेशी पर नीचे की भीतरी त्वचा में की रोग-विकृति का खासा परिणाम होसकता है।

भीतरी त्वचा अथवा असली त्वचा बाहरी त्वचा की भीतरी ओर होती है। उसमें सफेद और लचीला पेशीजाल, केशवाहिनी (ब्लड कपिलरीज), रसवाहिनी (लिंफ्याटिक्स) मज्जातंतु, घर्मपिंड, स्नेहपिंड (सेबशियस ग्लैंड), रोओं की जड़ें और कुछ स्नायुतंतु इत्यादि होते हैं। बाहरी त्वचा के नीचे के सर्पमोड़ के हिस्से की तरह ही भीतरी त्वचा का भी ऊपरी भाग सर्पमोड़ आकार का ही होता है। इसमें के उठे हुए हिस्से में केशवाहिनियां और स्पर्शज्ञान करानेवाले मज्जातंतुओं के सिरे होते हैं। कुछ हिस्से में इस मज्जातंतु के सिरे पर फुलावट जान पड़ती है। उनके द्वारा स्पर्शज्ञान होता है, इससे उसे स्पर्शगोलक (टच कार्प्युस्कल) कहते हैं। त्वचा के निचले हिस्से में चरबी की तह

* इटाली में मार्सेलो मल्पीगी नाम के शरीरशास्त्रवेत्ता ने इसकी खोज की थी, इसलिए उस तरह का यह नाम मिल गया है।

होती है। वह शरीर की गर्मी को बाहर नहीं जाने देती।

घर्मपिंड (स्वेट ग्लैंड) त्वचा के निचले हिस्से में होते हैं। प्रत्येक पिंड सूक्ष्म रक्तवाहिनियों से घिरा हुआ एक प्रकार का शिराओं का मल ही होता है। उससे निकलनेवाली घर्मनलिका (स्वेट डक्ट) ऊपर जाकर त्वचा के पृष्ठभाग पर खुलती है। चमड़ी के पृष्ठभाग पर हमें जो अनेक छिद्र दिखलाई देते हैं वे इस घर्मनलिका के मुंह हैं। भीतरी त्वचा में ऊपर को जाते यह घर्मनलिका सीधी होती है। पर बाहरी त्वचा में से ऊपर को जाते वह सर्पमोड़ जैसी होती है।

रोयें सींग सरीखे कड़े पदार्थ से बने हुए हैं। बाहरी त्वचा से उनकी उत्पत्ति होती है। बाहरी त्वचा की एक खांच (फालिकल) भीतरी त्वचा तक गई हुई है। उसके नीचे जो रोमों का बूंद सरीखा मोटा हिस्सा होता है उसे रोममूल कहते हैं। उस रोममूल के नीचे के हिस्से से सूक्ष्म रक्तवाहिनियां और मज्जातंतु जुड़े हुए होते हैं। जड़ से रोमों तक एक सूक्ष्म स्नायु का संयोग भी रहता है। ठंढक या भय की वजह से उसके सिकुड़ने पर रोयें खड़े होजाते हैं। जड़ से निकलकर रोओं का जो काला भाग चमड़ी के बाहर निकलता है, उसे गोड़ कहते हैं।

स्नेहपिंड (सेबशियस ग्लैंड)—यह सूक्ष्म ग्रंथी रोओं के बगल में होती है। उसमें से तेल सरीखा सीबम नामक एक पदार्थ निकलकर त्वचा पर फैलता है। उससे रोएं और त्वचा चिकने और मुलायम रहते हैं।

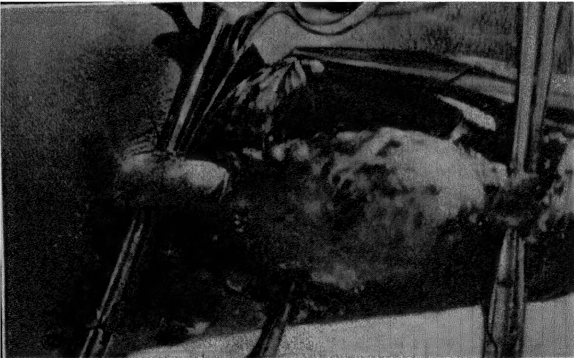
भीतरी त्वचा में शुद्ध और अशुद्ध रक्तवाहिनियों और मज्जातंतुओं से बने हुए खास दो जाल (प्लेक्सस्) फैले हुए होते हैं। इसमें एक भीतरी त्वचा और उसके नीचे के पेशीजाल में होता है। इसे त्वचा के नीचे का जाल कहते हैं। दूसरा आंतरिक त्वचा और बाह्य त्वचा

चित्र ५



पायाचे वेधक व्रण ।

चित्र ६



घट्ट मज्जातंतु व अमुख-व्रण ।

चित्र ७



५ व्या व ७ व्या शीर्षीय मज्जातंतूचा लकवा,
चलनवलन क्रियेंत बिघाड ।

के बीच के सर्पाकृति भाग के नीचे होता है। इसे त्वचा के बीच का या ऊर्ध्व (उपरला) जाल कहते हैं। भीतरी त्वचा के नीचे की शिराओं और मज्जातंतु में से निकली हुई शाखा से नीचे का जाल बना हुआ होता है। इससे सूक्ष्म उपशाखा निकलकर रोममूल घर्मपिंड और स्नेहपिंड को घेरकर त्वचा में के ऊपर के जाल तक पहुंची हुई है। इस ऊर्ध्वजाल से फिर अधिक सूक्ष्म उपशाखा निकलकर सर्पाकृति भाग तक गई हुई है।

त्वचा और मज्जातंतु में के संसर्ग का प्रसार

जब कुष्ठसंसर्ग त्वचा में पहुंचता है तब या तो रक्त में के रोग-जंतुओं को खा डालनेवाले श्वेतभक्षक गोलकों (फ्यागोसिट) द्वारा नष्ट होजाता है अथवा फिर वह शिराओं और मज्जातंतु के जाल के मार्ग से पसरने लगता है। कुष्ठज्वर अथवा तात्कालिक जोरदार पेशी की प्रतिक्रिया शुरू होने की वजह से रक्तपेशी रुग्णकों पर हमला करके भक्षक गोलकों के द्वारा कुष्ठजंतुओं का नाश करती है। हमेशा की साधारण परिस्थिति में त्वचा और मज्जातंतु में की कुछ पेशियां कुष्ठ-जंतुओं का प्रतिकार करती हैं। कुष्ठजंतुओं का नाश करने में भाग बंटानेवाली इस पेशी का 'माइक्रोफेज' नाम रक्खा गया है। वह वाहिनियों से सटे हुए सामने के पेशीजाल में होती है इसलिए उसे परिवाहिनी पेशी कहते हैं।

त्वचा में प्रवेश किये हुए कुष्ठजंतुओं की वृद्धि पेशी के अंदर और एक पेशी से दूसरी के बीच के रससंस्थान (लिंफ स्पेसेस) में होती है। संसर्ग की वृद्धि का परिमाण और उसका शरीर में प्रसार पेशी की प्रतिक्रिया के परिमाण पर निर्भर रहता है। और यह पेशी की प्रतिक्रिया रोगी की प्रतिकारक्षमता पर अवलंबित रहती है। प्रतिकार-

शक्ति के अत्यंत क्षीण रहने पर जाल के मार्ग से संसर्ग तीव्रता से फैलता रहता है। बहुत बार ऊपर के बिलकुल पृष्ठभाग की परत में संसर्ग मर्यादित रहता है। तथापि साधारणतः कम-ज्यादा मीयाद के बाद संसर्ग रोममूल और धर्मपिंड के सामने की वाहिनियों और मज्जा-तंतुओं के द्वारा फैलकर नीचे के जाल में प्रवेश करता है। वहां उसके खूब बढ़ने की संभावना रहती है। वहांसे फिर उसका संसर्ग दूसरी शाखाओं के द्वारा ऊपर के जाल में फिर घुस सकता है अथवा उसी अवधि में नीचे के जाल के संवेदनावाहक मज्जातंतु के द्वारा अंदर फैल सकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष त्वचा से पृष्ठीय मज्जातंतु के विकृत होने की संभावना रहती है।

कुष्ठजंतुओं पर त्वचा की पेशी की प्रतिक्रिया

भिन्न-भिन्न जालों और उनकी शाखा-उपशाखाओं में से संसर्ग बढ़ते-बढ़ते वाहिनियों के सामने की पेशी कुष्ठजंतुओं के साथ भिड़ने लगती है—प्रतिक्रिया करने लगती है। यह प्रतिक्रिया तीन तरह की होती है। (१) स्वतः विभक्त होकर पेशी की संख्या बढ़ाना, (२) माइक्रोफेज पेशी का जंतु को निगल लेना, वा (३) अनुकूल परिस्थिति में जंतुओं का नष्ट होना। प्रतिक्रिया का तीव्र या मन्द होना विशिष्ट स्थान में प्रत्यक्ष मौजूद कुष्ठजंतुओं की संख्या और पेशी की प्रतिकार-क्षमता या इन दोनों के परिमाण पर निर्भर है। इसके कारण जंतु-प्रविष्ट जाल और वाहिनियों के चारों ओर माइक्रोफेज पेशी के कारण उत्पन्न होनेवाला अन्तःसेक (इंफिल्ट्रेशन) इकट्ठा होता है। यह अन्तःसेक कमोबेश ढीला या गाढ़ा होता है। यह वहांके जंतुओं की संख्या और पेशी की प्रतिक्रिया-शक्ति पर अवलंबित होता है। इस पेशी की बाढ़ और उत्पन्न होनेवाले अंतःसेक के कारण रुग्णक पैदा होते हैं।

प्रतिकारक्षम नये रुग्णकों के जंतु माइक्रोफेज के द्वारा निगले जाते हैं और उनके नष्ट होने की क्रिया जोरों से चलती है। उसकी वजह से पेशी के द्वारा बना हुआ गाढ़ा सूक्ष्म कणसंघ (ग्रन्यूलोमा) बन जाता है। उसमें सारे जंतु नष्ट हुए रहते हैं अथवा दो-चार नष्ट होने को बाकी रहते हैं । यदि पेशी की प्रतिकार-शक्ति बिलकुल क्षीण हुई तो एक पेशी से दूसरी पेशी के बीच के रस-संस्थान में पेशी के भीतरी द्रव (प्रोटोप्लाज्म) में जंतु बढ़ते रहते हैं। ऐसे रुग्णकों की जांच की जाय तो उसमें अनेक कुष्ठजंतु पाये जाते हैं। पर जंतुओं की संख्या के मुकाबले में पेशी के विभक्त हो-कर बढ़ने की क्रिया हलकी होती है। वाहिनी के चारों ओर शिथिल कणसंघ होता है, इसीलिए दिखाई देनेयोग्य या छूकर समझनेयोग्य लक्षण बहुत कम होते हैं या बिलकुल ही नहीं होते। इस प्रकार एक ओर प्रतिकारक्षम उदाहरण में चिन्हित सख्ती लिये हुए छोटा-सा चकत्ता होता है, तो दूसरी ओर क्षीणप्रतिकार में अंतःमेक सारी त्वचा में व्याप जाता है । सिर्फ बाहरी लक्षण नहीं-से होते हैं।

त्वचा से मज्जातंतु में पसरनेवाला संसर्ग

नीचे के जाल में संसर्ग बढ़ते समय उस हिस्से से जुड़े हुए संवेदनावाहक (सेंसरी) मज्जातंतुओं में भी उसका प्रसार होता है। ऐसे मज्जातंतुओं की सूक्ष्म शाखा की जांच करने से मज्जातंतु की संधि की भीतरी रेखा में जंतु मिलते हैं। त्वचा में वे केशवाहिनियों और रक्तवाहिनियों के चारों ओर माइक्रोफेज पेशी के पास-पड़ोस में पाये जाते हैं। इस वजह से उनका नष्ट करना आसान रहता है। मज्जातंतुओं की संधियों में वे केशवाहिनी से मज्जारेखा के कारण अलगाये जाते हैं। इस फर्क के कारण मज्जातंतुओं में के जंतुओं का नष्ट होना कठिन होता है।

जान पड़ता है माइक्रोफेज की कुष्ठजंतुओं के साथ होनेवाली प्रतिक्रिया कुछ अंशों में सान्निध्य पर अवलम्बित है। इससे मध्यम प्रतिकार के उदाहरणों में मज्जातंतुओं में के जंतुओं के बजाय त्वचा के जंतुओं का नाश होता है। मज्जातंतुओं में जब जंतु रहते हैं तब पेशी-की भक्षण-मारण क्रिया से मानों मज्जा-रेखा के कारण उनका संरक्षण हो-जाता है। क्षीण प्रतिकार के उदाहरण में—कालकुष्ठ प्रकार में—त्वचा और मज्जातंतु इन दोनों में भरपूर संसर्ग पसरा रहता है। त्वचा में पेशी का अंतःसेक भरपूर रहता है। सिर्फ मज्जातंतु में बिलकुल कम रहता है।

सौम्य कुष्ठ के चकत्तों में त्वचा में कणसंघ गाढ़ा बना हुआ रहता है। उस दशा में एकाध जंतु मिले तो मिले, नहीं बिलकुल नहीं मिलते। पर उससे जुड़े हुए मज्जातंतुओं में कणसंघमय अंतःसेक तो होता है, पर तुलनात्मक दृष्टि से कुष्ठजंतु बड़ी तादाद में पाये जा-सकते हैं और वे भी वाहिनी से दूर संधि-भाग में होते हैं। इसलिए त्वचा की अपेक्षा मज्जातंतुओं में के कुष्ठजंतुओं को नष्ट करने में अधिक जोरदार प्रतिक्रिया-शक्ति की जरूरत होती है। मध्यम प्रतिकार के उदाहरण में त्वचा के जंतुओं का नाश हुआ रहता है। परंतु पृष्ठीय में मज्जातंतुओं में वे सिर्फ दबे-से रहते हैं। यदि किन्हीं कारणों से प्रतिकार-शक्ति किसी समय कम होगई तो वे मज्जातंतुओं में से त्वचा में फिर प्रवेश करने लगते हैं, यह संभव है। प्रायः यह देखा गया है कि उस समय जो चकत्ते अच्छे-से होगये थे उनमें फिर रोग-वृद्धि के लक्षण दिखाई देने लगे।

प्रतिकार-शक्ति में चढ़ाव-उतार

प्रतिकार-शक्ति की कमी-बेशी के अनुसार रुग्णकों के प्रकट और सूक्ष्म शरीर-स्वरूप में अंतर होता है, यह ऊपर कह आये हैं। प्रतिकार-

शक्ति में का चढ़ाव-उतार भी रुग्णकों के स्वरूप निश्चित करने का एक महत्त्व का साधन है। प्रतिकारशक्ति के इस चढ़ाव-उतार के कारणों का आगे सत्रहवें प्रकरण में विचार किया जायगा।

यदि प्रतिकारशक्ति किसी वक्त कम हुई तो जंतु बढ़ने लगते हैं; त्वचा और मज्जातंतु दोनों में पसरते हैं। वक्त से अगर प्रतिकार-शक्ति फिर पहले की भांति होगई तो एकत्र कुष्ठजंतुओं से पेशी का तीव्र प्रतिकार शुरू होजाता है। इसे 'आरोग्य-स्थापन' (रिकवरी) की प्रतिक्रिया कहा जासकता है। सौम्य कुष्ठ के रोगी जब सहचारी रोग में से सुधार की ओर अग्रसर होने लगते हैं अथवा क्षीणता लानेवाले कारण खत्म होजाते हैं तो ऐसा अक्सर होता है। उस समय त्वचा के और मज्जातंतुओं के बाहरी लक्षण बिलकुल साफ दिखाई देते हैं।

यदि क्षीणता के कारण बहुत तीव्र या देर तक टिकाऊ हुए, तो प्रतिकारशक्ति हमेशा के लिए क्षीण होने का भय रहता है। फिर आरोग्य सुधरने पर रोग को रोकनेवाली पेशी की प्रतिक्रिया पूरी जोरदार न होने की सम्भावना रहती है। अथवा प्रतिक्रिया के कारण रोग की संकरता अथवा घालमेल होजाती है और फिर प्रतिकार-शक्ति गिर जाती है।

कभी-कभी त्वचा की प्रतिकार-शक्ति इस दर्जे की होती है कि बाहरी लक्षणों से समझ में आनेयोग्य त्वचा के रुग्णकों का होना टल जाता है। परंतु संवेदनावाहक मज्जातंतुओं में से जंतुओं का ऊपर फैलकर आरत्निक (अल्नर) सरीखे मिश्र मज्जातंतुओं में जाना नहीं रुकता। इस प्रकार मुख्य मज्जातंतु कुष्ठविकृत होजाने से गाढ़ापन या कोमलता अर्थात् स्पर्शतासहत्व (टेंडरनेस) आता है। उसकी वजह से पैदा होनेवाला पोषण, हलचल और संवेदना संबंधी (ट्राफिक,

मोटर, सेंसरी) लक्षण दिखाई देने लगते हैं। ऐसे शुद्ध अथवा केवल मज्जातंतु-कुष्ठ के उदाहरण कम ही होते हैं। जब मज्जातंतु विकृत होते हैं, तब साधारणतः उनसे व्याप्त भाग में त्वचा के रुग्णक होते हैं। अथवा पहले रुग्णक होकर बदली हुई शक्ल में चकत्ते वगैरा आखिरी लक्षण रहते हैं।

स्वयंमुक्तता

यह बात खूब ध्यान में रखनी चाहिए कि क्षय की भांति कोढ़ भी अत्यल्प (स्लाइट) रोग होसकता है। संसर्ग पहुंच जाने पर भी वह निष्फल अथवा अनुत्पादक भी रह सकता है। यत्किंचित रुग्णक हुए भी तो बिना इलाज के अपनेआप ही अच्छे होसकते हैं। इसके दृढ़ प्रमाण हैं कि रोगग्रस्त प्रदेशों में बहुतेरे उदाहरणों में स्वयंमुक्ता होती है। इस प्रकार अपनेआप दुरुस्ती होना यह रोगी के सर्वसामान्य आरोग्य में वक्त से अच्छा सुधार होने पर निर्भर रहता है।

कोढ़ की अतिप्रगत अवस्था में भी स्वयंमुक्तता बहुत बार आ जाती है। कुपित अवस्था में पहुंचे हुए रोगियों में फिर संसर्ग क्रमशः कम होता जाता है। रोगी फिर लौटकर सौम्य कुष्ठ में पहुंचता है। पूर्वरोग के शेष चिन्हों के रूप में चेहरे और हाथ-पैरों पर कुरूपता और व्यंगता बाकी रहती है। ऐसों को रोग जलकर मुक्त हुए (बर्न्ट आउट) रोगी कहते हैं। ऐसे उदाहरणों में जंतु क्यों और कैसे नष्ट होते हैं, इसका अभीतक ठीक फैसला नहीं होपाया है।

नवां प्रकरण

मज्जातंतु के रुग्णकों का स्वरूप-लक्षण

मज्जातंतु में संसर्ग कैसे फैलता है, इसकी स्पष्ट कल्पना के लिए पहले मज्जातंतु की रचना और उसके कार्य की कुछ जानकारी होने की जरूरत है।

मज्जातंतु की रचना और कार्य

शरीर में अनेक इंद्रिय-संस्थाएं हैं। वे अपना-अपना काम करती रहती हैं। परंतु उन सबके कामों को संकलित और व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए उनपर अधिकार रखनेवाली एक इंद्रिय-संस्था है, जिसे मज्जा-संस्था (नर्वस सिस्टम) कहते हैं।

जिस प्रकार हरेक इंद्रियां असंख्य पेशियों से बनी हुई हैं वैसे ही सारी मज्जा-संस्था मज्जाकणों (न्यूरान) से बनी हुई है। प्रत्येक मज्जाकण के मज्जापेशी और मज्जारेखा (फायबर) नाम के दो हिस्से होते हैं। मज्जापेशी पेशीद्रव की अनियमित आकार की एक सूक्ष्म गोली ही होती है। उसके मध्य में केंद्र-भाग होता है और बगल में अनेक सूक्ष्मकण होते हैं। मज्जापेशी से अनेक शिखातंतु (डेंड्र्स) निकलते हैं। इसके कारण पास-पास के मज्जाकण एक-दूसरे से जोड़े जाते हैं और एक की बात या संदेश दूसरे को सहज में समझ में आता है। इसमें एक ही शाखा लम्बी होती है। उसे मुख्यतंतु (अक्ज़न) कहते हैं। मज्जापेशी से बाहर निकलने पर इसपर एक तरह का परदा पड़ जाता है। इस आवरण-सहित को मुख्य तंतु की मज्जा-रेखा कहते हैं। शरीर में जो अनेक मज्जातंतु हमें दिखाई देते हैं उनमें से प्रत्येक मज्जातंतु उपर्युक्त वर्णन के अनुसार सूक्ष्म

मज्जा-रेखा का एक संयुक्त पदार्थ ही है। ये सब तंतु मज्जा-पेशी से ही निकले हुए होते हैं। संयोगी पेशी-जाल से वे एक-दूसरे से गुंथे हुए होते हैं।

बिजली डाइनमो में तैयार होती है। तार सिर्फ उसके वाहक हैं। वैसे ही मज्जापेशी में प्रेरणा पैदा होती है और मज्जातंतु उसके वाहकमात्र हैं। प्रेरणा उत्पन्न करना, दूसरी ओर से आई हुई प्रेरणा को स्वीकारना और स्वीकार की हुई प्रेरणा को दूसरी ओर भेजना ये तीन काम मज्जापेशी करती है। प्रेरणा मज्जातंतु में अपनेआप पैदा नहीं होसकती। जो मज्जातंतु शरीर के भिन्न-भिन्न भाग की प्रेरणा को मस्तिष्क की ओर अथवा मज्जारज्जू (स्पायनल कार्ड) के पास पहुंचाकर वहां संवेदना उत्पन्न करते हैं, उन्हें संवेदनावाहक (अफरंट सेंसरी) मज्जातंतु कहते हैं। मस्तिष्क या मज्जारज्जू की ओर से आनेवाला संदेश या आज्ञा शरीर के भिन्न-भिन्न भागों के पास जिन मज्जातंतुओं के द्वारा पहुंचाई जाती है उन्हें 'आज्ञावाहक' (इफरंट) मज्जातंतु कहते हैं। इन दूसरे मज्जातंतुओं के तीन प्रकार हैं। (१) स्नायु की ओर जानेवाले मज्जातंतु। इनकी सहायता से स्नायु का आकुंचन होता है। इन्हें 'गतिवाहक' (मोटर) मज्जातंतु कहते हैं। (२) भिन्न-भिन्न ग्रंथियों की ओर जानेवाले मज्जातंतु। इनकी सहायता से ग्रंथियों में स्राव उत्पन्न होता है। इसे 'रसविमोचक' (सिक्रेटरी) मज्जातंतु कहते हैं। (३) रक्त के बहाव का नियंत्रण करनेवाले मज्जातंतु। इनके संयोग से रक्तवाहिनी की दीवारों के स्नायुओं का संकोचन और प्रसारण होता है। किसी हिस्से को रक्त कम या ज्यादा पहुंचाने की जरूरत हुई तो वह काम इनके द्वारा होता है। इन्हें 'धमनीचालक' (वाइसो मोटर) मज्जातंतु कहते हैं। बहुत जगह संवेदनावाहक और आज्ञावाहक दोनों प्रकार के तंतु एक ही

मज्जातंतु में होते हैं। इन्हें 'मिश्र' मज्जातंतु कहते हैं। त्वचा के बिलकुल पृष्ठभाग के पास जो सूक्ष्म मज्जातंतु हैं उन्हें 'पृष्ठीय अथवा बहिर्मुख' (पेरीफीरल) कहते हैं।

मज्जातंतु में संसर्ग के प्रवेश की रीति

पृष्ठभाग के मज्जातंतुओं का रक्त-प्रवाह के जरिये कुष्ठजंतुओं द्वारा विकृत होना संभव है। तथापि यह बात साधार है कि जंतु खासकर त्वचा से ऊपर चढ़नेवाले संसर्ग के कारण नीचे के जाल में के संवेदनावाहक मज्जातंतुओं में प्रवेश करते हैं। जहां आरंभिक सौम्य कुष्ठ का एक ही चकत्ता है और उससे संलग्न भिन्नमूल की ओर जानेवाले दो मज्जातंतु हैं ऐसे एक रुग्णक को जांच के लिए लीजिए, उसकी जांच से जंतु-प्रवेश के उपर्युक्त कायदे की पुष्टि हो जायगी। एक उदाहरण में कान के ढकने पर एक चकत्ते जितना ही त्वचा का रुग्णक था और सख्त हुए मज्जातंतु ठीक बाह्यकर्णीय (आरिक्यूलर) और कर्णशंखीय (आरिक्यूलो-टेंपोरल) ही पाये गये। दूसरे उदाहरण में हाथ के पिछले हिस्से में चकत्ते जितना ही त्वचा का रुग्णक था। उस हिस्से से सम्बद्ध आरत्निक (अल्नर) और प्रकोष्ठीय (रेडियल) मज्जातंतुओं की शाखाएं खूब सख्त हुई पाई गईं। ऐसे बहुत उदाहरण मिले हैं। इससे अपने आप ही यह अनुमान निकलता है कि पहले त्वचा विकृत होती है और बाद को उसके द्वारा पूरक मज्जातंतुओं में संसर्ग फैलता है। बहुत बार त्वचा में आदिवाला संसर्ग नष्ट हो जाता है और वह सिर्फ मज्जातंतुओं में ही रहता है। इसका कारण यह है कि कुष्ठजंतु त्वचा की अपेक्षा मज्जातंतुओं के समूह में सुलभता से डेरा जमाकर रहते और बढ़ते हैं। इसी वजह मे मज्जातंतु कुष्टजंतुओं के एकत्रित होने का स्थान बनता होगा।

संसर्ग के त्वचा के नीचे के जाल में रोओं की जड़ के चारों ओर त्वचा के सर्पाकृति भाग में और उसकी नीचे की तह में प्रवेश करन पर नया सूक्ष्म कणसंघ (ग्रन्युलोमा) तैयार होता है; और बाहर से दिखाई देने लायक फुंसियों का समूह का समूह, पहले के चकत्ते की सीमा के बाहर को उभरा हुआ दिखाई देता है : मानों यह रोग के लिए नया प्रदेश तलाशनेवाले चर हों। इस कारण उनका 'पुरोगामीपीठिका' (पायनीयर पप्युल्स) नाम पड़ गया है। त्वचा के नीचे के मज्जातंतुओं में कुष्ठजंतुओं का जो एक प्रकार का जमाव रहता है, उसमें से फिर त्वचा में संसर्ग जा सकता है। उसकी वजह म शुरू के चकत्ते में दोबारा संसर्ग पहुंचता है; अथवा पड़ोस की नई त्वचा कुष्ठ-विकृत होती है। रोगी की प्रतिकार-शक्ति के बीच की बीमारी के कारण अथवा तात्कालिक अशक्ति के कारण क्षीण होने पर अक्सर ऐसा होता है।

सूक्ष्मग्रंथिल (ट्यूबरक्युलाइड) प्रकार के चकत्तों का छीलन (सेक्शन) अथवा विलेप (स्मीअर) लेकर जांचने पर जंतु नहीं मिलेंगे। मिले भी तो कभी एकाध मिल जा सकते हैं। तथापि उस चकत्ते में कितने ही महीने अथवा साल तक जागृति अथवा क्रियाशीलता (ऐक्टिविटी) के लक्षण मिलते हैं। उसका प्रकार या आकार करीब-करीब उतना ही रहता है। ऐसे चकत्तों के हठीलेपने की ठीक उपपत्ति उपर्युक्त स्पष्टीकरण से होती है। जलती बत्ती जैसे धीरे-धीरे आगे सरकाते जाने से एकसां जलती रहती है, वैसे ही पूरक मज्जातंतुओं के संग्रह में से निरंतर अथवा बीच-बीच में दुबारा संसर्ग होते रहने से ये चकत्ते निरंतर क्रियाशील रहते हैं। ऐसे उदाहरण में कुष्ठजंतु मज्जातंतुओं में से ज्यों-ज्यों त्वचा में पहुंचते जाते हैं त्यों-त्यों नष्ट होते जाते हैं। इस वजह से वहां मंद क्षोभयुक्त प्रतिक्रिया जारी रहती है।

क्षीण प्रतिकार के उदाहरण में संसर्ग मज्जातंतुओं में से बिना रोक-टोक के फैल सकता है। पेशी की प्रतिक्रिया नहीं-सरीखी रहती है। इसकी वजह से मज्जातंतुओं के लक्षण नहीं मिलते। कालकुष्ठ के स्पष्ट उदाहरण में प्रतिकार-शक्ति क्षीण होती है और ये मज्जातांत्वीय लक्षण भी नहीं होते। परंतु ऐसे उदाहरणों में यह नहीं समझना चाहिए कि मज्जातंतु कुष्ठविकृत नहीं है। इसके विपरीत सौम्यकुष्ठ की अपेक्षा काल-कुष्ठ में मज्जातंतुओं में अधिक जंतु पाये जाते हैं।

स्पर्शशून्यता अथवा दूसरे मज्जातांत्वीय लक्षण जंतुओं से निकलने-वाले विष के कारण पैदा नहीं होते। वैसे ही, मज्जारेखा पर जंतुओं का दबाव पड़ने से भी उनकी उत्पत्ति नहीं होती। इन लक्षणों की उत्पत्ति का कारण है जोर से प्रतिक्रिया करनेवाली और विभक्त होकर बढ़ने-वाली पेशियों के कारण कणसंघ का बनना और उसका आक्रमण करना। मज्जातंतुओं के समूह में अथवा समूह-समूह के बीच की केशवाहिनियों से यह पेशी गुंथी रहती है। इस पेशी की प्रतिक्रिया पहले केशवाहिनियों के निकट के जंतुओं के कारण होती है; आगे चलकर पेशी विभक्त होकर बढ़ती है और जंतुओं को निगलने लगती है और जब यह क्रिया जोर पकड़ने लगती है तब वाहिनियों से दूर के हिस्से के मज्जारेखा में के जंतुओं के कारण भी ऐसा होने लगता है।

ऐसी दशा में मज्जातंतु की सूक्ष्म शाखा की तिरछी छीलन जांच के लिए ली जाय तो उसके मध्य भाग में घट्टकुष्ठिका (लेप्रोमा) पाई जाती है, जंतु नहीं मिलते। मज्जारेखा नष्ट हुई मिलती है। सिर्फ सीमा के पास जंतु मिलते हैं, कुष्ठिका नहीं होती और मज्जारेखा साबित रहती है। जंतु कम होकर भी मज्जाजंतुओं के बाहरी और स्वसंवेद्य लक्षणों का अधिक स्पष्ट होना यह प्रतिकारक्षम उदाहरण में

ही होता है। क्षीण प्रतिकार के उदाहरण में उस हिसाब से नहीं होता।

यहां एक प्रश्न यह पूछा जायगा कि ऐसे प्रतिकारक्षम उदाहरण में जंतु मुख्य स्तंभ तक मज्जातंतुओं में से ऊपर जाते ही कैसे हैं ? पृष्ठभाग के पास के मज्जातंतुओं में रहते हुए पेशी की निगलने और मारने की क्रिया से उनकी रक्षा कैसे हो जाती है ? यह नहीं है कि प्रतिकार-शक्ति हमेशा एक-सी ही रहती हो। अलग-अलग व्यक्तियों में वह भिन्न-भिन्न होती है; उसी प्रकार एक ही व्यक्ति में भी परिस्थिति-भेद से कम-ज्यादा होती रहती है। प्रतिकारशक्ति जहां क्षीण हुई कि जंतु फैलने लगते हैं; और जोरदार हुई कि पेशी की प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है। प्रतिकार-शक्ति के गिरने पर जंतुओं को दूर तक फैलने का मौका मिलता है।

मज्जातंतुओं में से ऊपर जाते हुए घाव या रुकावट की जगह पर जमा होने की जंतुओं की प्रवृत्ति रहती है। जहां शाखाएं मिलती हैं अथवा मज्जातंतु स्नायु के, श्वेततंतु पेशीजाल के, अथवा हड्डी के बक्र भाग की ओर झुकते हैं, अथवा संकड़े छिद्रों में से जाते हैं वहां रुकावट की अधिक संभावना रहती है। पृष्ठीय मज्जातंतु जब हड्डी से सटे रहते हैं तब उनके रुग्ण होने का ज्यादा खटका रहता है। जब क्षीण प्रतिकार-शक्ति अच्छी तरह सुधर जाती है तब ऐसे जंतु जहां एकत्रित रहते हैं वहीं मज्जातंतु विशेष सख्त हो जाते हैं। कारण फुटकर एकाध जंतुओं की अपेक्षा जंतुओं के समूह के कारण पेशी की प्रतिक्रिया ज्यादा जोर से शुरू होती है। इसी वजह से केहुनी के पास मुड़ते हुए आरत्निक (अल्नर), घुटने की गुल्फास्थि (फिब्यूला) के पास से मुड़ते हुए पेरोनियल और कान के पास के स्नायु की तरफ से मुड़ते हुए बड़ा बाह्यकर्णीय (ग्रेट आरिक्यूलर) मज्जातंतु यह बहुत

सख्त हो जाता है। मज्जातंतुओं के रुग्णकों में यही तीन बिलकुल हमेशा होने हैं।

मज्जातंतुओं के रुग्णकों का स्वरूप

त्वचा में और मज्जातंतुओं में कुष्ठिका (लेप्रोमा) की शक्ल बिलकुल एक-सां होती है। क्षीण प्रतिकार के उदाहरण में विशेषता यह होती है कि कुष्ठ-पेशी (लेप्रा सेल) पाई जाती है। यह बीच में फूली हुई तथा पोली होती है और फेन सरीखी दिखाई देती है। इसलिए कुछ लोग उसे फेन-पेशी (फोमी सेल) भी कहते हैं। उसके भीतर निगले हुए कुष्ठ-जंतु होते हैं। बिलकुल किनारे की ओर सूक्ष्म गोल पेशी (राउंड सेल) होती है। अच्छे प्रतिकारक्षम उदाहरण में कुष्ठ पेशी के बजाय 'उपलेपक पेशी' (एपिथेलाइड् सेल) पाई जाती है। जंतु बिलकुल कम होते हैं। त्वचा के रुग्णकों में 'दीर्घकाय' (ज्यांट्) पेशियां प्रायः भरपूर होती हैं।

त्वचा की अपेक्षा मज्जातंतुओं में पनीर सरीखा चिकटा पदार्थ बनाने की क्रिया अर्थात् पनीरीभवन (केसीएशन) ज्यादा होता है। बहुत बार इस क्रिया के बढ़ जाने पर अमुखव्रण (अब्सेस) भी उत्पन्न होजाते हैं। मज्जातंतुओं के बेठन अथवा खोल (एपिन्यूरियम) प्रायः सख्त होगई होती है। कई बार तो वह बहुत ही सख्त होती है। जंतुओं पर जो पेशीय प्रतिक्रिया होती है उसकी वजह से ऐसा होता है। उसके कारण चारों ओर के पेशीजालों में संसर्ग के फैलने में रुकावट पड़ती है। प्रतिकारक्षम उदाहरणों में कुष्ठजंतु मज्जातंतुओं में बंद हुए से रहते हैं। उनके बाहर आने की शक्यता मज्जातंतु के आवरण अथवा त्वचा में होती है। पर वह बंद-सी रहती है। मज्जातंतुओं में जंतु टिके रह सकते हैं और बढ़ भी सकते हैं। इतना ही नहीं, पूर्व कथनानुसार उनके जीने और बढ़ने के लिए मज्जातंतु ही अधिक अनुकूल स्थान है।

वाले हिस्से में एकाध या गुच्छा-का-गुच्छा मिलने की संभावना अधिक रहती है। बेठन में अथवा पास की मज्जारेखा में उस हिसाब से कम मिलने की बात रहती है। ऐसे मौकों पर मवादवाले हिस्से में बंद हो-जाने के कारण निगलने और मारने की क्षमतावाली पेशी (माइक्रोफेज) से उनकी रक्षा होती होगी।

मज्जातंतु का आकुंचन

कुष्ठजंतुओं पर पेशी की प्रतिक्रिया होते हुए मज्जातंतुओं के बेठन का खूब सख्त होना संभव है। इसकी वजह से वह मजबूत और न झुकने वाला बन जाता है। ऐसे बेठन में जब तीव्र दाहजन्य क्रिया शुरू होती है और उसके कारण रक्त जमकर (कंजेश्शन) सूजन आती है तब मज्जारेखा पर खूब भार पड़ता है। उसकी चालू क्रिया में रुकावट पड़ती है। भार दीर्घकालीन और बहुत अधिक हुआ तो वह नष्ट भी होजाता है। कठिन रंघ्र में जाने के स्थान पर मज्जातंतुओं का आकुंचन तो अधिक दु:सह होने की संभावना रहती है। कोने के हिस्से की ओर झुकते हुए श्वेततंतु (फायब्रस) पेशीजाल से आरत्निक (अल्नर) हड्डी से ढका जाता है। पेरोनियल का भी गुल्फास्थि के पास से जाते हुए यही हाल होता है। मज्जातंतुओं के एक दम सूज जाने पर श्वेततंतुओं के आकुंचित हुए बंधन अगर वक्त से काट न दिये गये तो हिलना, डुलना, पोषण और संवेदना में हमेशा के लिए विकृति पैदा हो जाती है या व्यंग्यता आजाती है।

उसी प्रकार चेहरे के मज्जातंतुओं के सूजने पर छिद्र में से जाते हुए ढके जाने की संभावना रहती है। उस समय चेहरे के एक ओर पूरा लकवा—पक्षघात (परिलिसिस) हो जाता है। सौम्यकुष्ठ के प्रतिकार-क्षम उदाहरण में जब चेहरे पर विस्तृत रुग्णक रहते हैं तब वहां आधा

लकवा (पेरीसिस) होना बराबर होनेवाली चीज है। उसकी वजह से चेहरा पुतले की तरह भावशून्य (मास्क लाइक अपियरेंस) होजाता है। इस प्रकार के रोग का वह एक विशेष लक्षण ही है। चेहरे की त्वचा में शून्यता आने की वजह से उसके नीचे के भाव व्यक्त करनेवाले स्नायु क्रिया करने में अंशतः असमर्थ हो जाते है। आंखों की पपनियां और मुंह खोलने बन्द करनेवाले स्नायुओं का भी यही हाल हो जाता है। प्रगत रोगी बहुत बार मजबूरन होठ नहीं बन्द कर पाते और बराबर लार गिरती रहती है। चेहरे के मज्जातंतुओं में रुग्णक होने पर ऐसा होता दिखाई नहीं देता। ऊपर की स्पर्शशून्यता के कारण नीचे के स्नायुओं की कायम की आरोग्यस्थिति न रह जाने पर यह संभव है। उसी प्रकार ऊर्ध्वाक्षिकोषीय (सुप्रा आर्बिटल) मज्जातंतु हड्डी के छेद में से अक्षि-कोष में जाते हुए जब बहक जाता है तब कपाल के एक हिस्से में बधिरता आती है। उसी के साथ कपाल में ऊपर को जाने वाले स्नायू के (आक्सिपिटो फ्रान्टलिस) उसी अंग को आधा लकवा भी होजाता है।

दसवां प्रकरण

कोढ़ के प्रकार

प्रकट-रोग-लक्षण की दृष्टि से कोढ़ के मुख्य दो प्रकार है। (१) मज्जातांत्वीय (न्यूरल) अथवा सौम्यकुष्ठ और (२) कालकुष्ठ (लेप्रो-मटस्)। सन् १९३८ में काहरा (इजिप्ट) में इंटर नेशनल लेप्रसी कांग्रेस (आंतर्राष्ट्रीय कुष्ठ कांग्रेस) ने इन मुख्य दो प्रकारों की व्याख्या नीचे लिखे अनुसार स्वीकार की थी :

१. **मज्जातांत्वीय (म) प्रकार**—कोढ़ के सौम्य रूप के सब उदाहरण। इनमें (१) पृष्ठ भाग की संवेदना में परिवर्तन, पोषण विषयक बिगाड़, अपोषण-क्षय (लकवा अथवा पक्षाघात) , मज्जातंतुओं की ज्ञानवाहक और हिलने-डुलने की क्षमता का क्षीण अथवा नष्ट होना। और इनसे होनेवाले दूसरे अप्रत्यक्ष परिणाम ये सारी खराबियां मज्जातंतु-दाह के (न्यूरायटिस) शक्ल की होती हैं। (२) संवेदना की खराबी से होने पर स्थानबद्ध चकत्ते अथवा मंडल होते हैं। अथवा (३) दोनों प्रकार के रुग्णक एकत्र पाये जाते हैं। ऐसे रोगी में संसर्ग की पेशीप्रतिक्रिया ठीक परिमाण में होती रहती है। साध्यासाध्य विचार (प्राग्नोसिस) की दृष्टि से इसमें रोगी शायद ही मरता है। सिर्फ अवयव के बदशक्ल अथवा विकृत होने का खटका रहता है। लेप्रालिन परीक्षा साधारणत: अस्तिपक्ष में अथवा भावरूप होती है। त्वचा के रुग्णकों में सूक्ष्मदर्शक परीक्षा में निरपवाद रूप से न सही तब भी बहुत करके जन्तु नहीं पाये जाते। नाक की श्लेष्मल त्वचा की जांच में जंतु पाये जा सकते हैं। सूक्ष्मशरीरशास्त्र की दृष्टि से (हिस्टालाजिकली) बहुतेरे रुग्णक सूक्ष्म ग्रंथि से बने हुए—'सूक्ष्म ग्रंथिल' (ट्यूबर क्युलाइड) होते हैं।

२. **कालकुष्ठ (क) प्रकार**—नाम के मुताबिक ही यह कोढ़ का विकट और दुश्चिकित्स्य प्रकार है। इसमें रोगसंसर्ग पर पेशीजाल की प्रतिक्रिया लगभग नहीं ही होती है। यह दु:साध्य स्वरूप होता है। लेप्रालिन परीक्षा अभावरूप (नास्तिपक्ष में) होती है। त्वचा और दूसरे अवयव विशेषकर मज्जातंतु का मुख्य स्तंभ (ट्रंक) कुष्ठविकृत हो जाता है। सूक्ष्मदर्शक परीक्षा में अनेक जंतु पाये जाते हैं। मज्जातंतुदाह विषयक खराबी होती भी है और नहीं भी। प्रथम अवस्था

के कालकुष्ठ के रुग्णकों में आरंभ में वह खराबी नहीं होती है। सिर्फ आगे चलकर होती है। सौम्यकुष्ठ से कालकुष्ठ में बदले हुए रुग्णकों में वह प्रायः पाई जाती है।

मज्जातांत्वीय अथवा सौम्य कुष्ठप्रकार

मज्जातांत्वीय रुग्णकों के (१) मंडलीय (मॅक्युलर) और (२) स्पर्शशून्य (अनेस्थेटिक) ऐसे उपप्रकार हैं। मंडलीय उपप्रकार में त्वचा और मज्जातंतु इन दोनों के लक्षण होते हैं; त्वचा पर चकत्ते नहीं होते। मंडलीय उपप्रकार के सादे मंडलीय (सिंपल मॅक्युलर) और सूक्ष्मग्रंथिल (ट्यूबरक्युलाइड मॅक्युलर) भेद हैं। मंडलीय प्रकार के ही रुग्णक ज्यादा होते हैं। सादे मंडलीय में चकत्ते साधारणतः सपाट होते हैं। सूक्ष्म ग्रंथिल में मोटे, ऊपर उठे हुए, रवेदार और छूने में खुर-दरे होते हैं। उनकी मोटाई और रवेदारपन के प्रमाण के हिसाब से सूक्ष्म ग्रंथिल के प्रधान और गौण दो सूक्ष्म उपभेद किये जाते हैं। नीचे इन सब मंडलीय उपप्रकारों का एक साथ ही विचार करेंगे।

(१) मंडलीय स्थानीय

मज्जातांत्वीय अथवा सौम्यकुष्ठ के इस मंडलीय उपप्रकार में त्वचा पर गोल लंबवर्तुलाकार अथवा बिना किसी खास आकार के बल्कि खासकर सिरे की ओर मंडल अथवा चकत्ते होते हैं। उनमें निम्नलिखित एक अथवा कई परिवर्तन होते हैं :—

१—वर्णहानि (फीकापन होना)

२—पृष्ठभाग की संवेदनाशक्ति में ह्रास

३—रुग्णक के मज्जातंतु-परिवार का सख्त हो जाना

४—मोटाई और लाली, खासकर किनारे के हिस्से पर। कुछ व्रण होने की ओर झुकाव।

५—पसीना निकलने में खराबी होने से पैदा होनेवाली खुश्की, बालों की बाढ़ रुकना इत्यादि ।

वर्णहानि सामान्य रूप से अंशतः होती है, पूर्णतः नहीं । रुग्णकों के कुछ हिस्से में अधिक तो कुछ में कम होती है । कभी लाली के कारण तो कभी मांसदाहक (कास्टिक) पदार्थ लगाने से कलझाये हुए मोटे दागों की वजह से फीकापन ढक जाता है ।

पृष्ठभाग की संवेदनाशक्ति के ह्रास में भी ऐसी ही कमी-बेशी होती है । चेहरे पर के रुग्णकों में तो वह नाममात्र को होती है । धड़ पर के (ट्रंक) रुग्णकों में उसकी अपेक्षा अधिक और हाथ-पांव के रुग्णकों में सबसे ज्यादा होती है । सारी संवेदनाशक्ति में भी एक-सी विकृति नहीं होती । साधारणतः शीतोष्णसंवेदना पहले विकृत होती है । इसके बाद सुख-दुःख-संवेदना और अंत में स्पर्श-ज्ञान का खातमा होता है । इस संवेदनात्मक अंतर के साथ बहुत बार विकार के कारण बढ़ा हुआ अति तीक्ष्ण स्पर्शज्ञान (हायपरस्थेशिया), हाथ पांवों पर चुनचुनाहट, लहर उठना, आघात करने पर झनझनाहट अथवा पीड़ा होना इत्यादि जिन्हें रोगी खुद समझ सकता है (स्वयंसंवेद्य) फरक-भी होता रहता है ।

रुग्णकों से संबंधित पृष्ठीय मज्जातंतुओं की सख्ती का जांच द्वारा समझ में आना आसान नहीं है । बहुत बार मज्जातंतु खूब सख्त होते हैं । विशेषतः रुग्णकों के मोटे होने पर मज्जातंतुओं की सख्ती सहज में मालूम हो जाती है । पृष्ठीय मज्जातंतु से संबंध रखनेवाले शरीर-विभाग का पूरा ज्ञान प्राप्त करके ठीक जांच करने से मज्जातंतुओं की सख्ती ध्यान में आ सकती है । यह सख्ती ऐसे मज्जातंतुओं की उपशाखा से लेकर मुख्य स्तंभ तक पसरी हुई पाई जाती है । स्तंभ भी बहुत बार सख्त होता है ।

क्रियाशील रुग्णकों में मोटाई और लाली साधारणतः पाई जाती है। उसका परिमाण भी कमोबेश रहता है। जो चकत्ते मोटे हो गये हैं उनमें यह ज्यादा दिखाई पड़ती है। कभी यह मोटाई और लाली थोड़ी-सी और सिर्फ किनारे की ओर ही होती है, कभी दोनों ही बिलकुल साफ-साफ होती हैं और रुग्णक के सारे-के-सारे बाहरी हिस्से को घेरे रहती हैं। कभी-कभी उसकी बहुत ज्यादती रहती है और सारे हिस्से में व्याप्त रहती है। उसकी वजह से बाहरी त्वचा की बारीक पपड़ी निकलती है। कभी प्रत्यक्ष व्रण उत्पन्न होकर भी पीड़ा होती है। शरीर के चकत्ते मोटे और सुर्खी लिये होते हैं या उससे विपरीत भी होते हैं। ऐसे घन लाल और मोटे चकत्तों की सूक्ष्म शरीर-शास्त्र की दृष्टि से की हुई जांच के आधार पर बहुत बार उसे 'सूक्ष्म ग्रंथिल' संज्ञा दी जाती है।

ये ऊपर बताये हुए मंडल शरीर के किसी भी हिस्से पर हो सकते हैं। वे व्यास में $\frac{1}{4}$ इंच जितने छोटे और १ फुट या इससे भी अधिक बड़े तक हो सकते हैं। कभी एक ही व्रण होता है; तो कभी छोटे-छोटे सैंकड़ों की तादाद में होते हैं। यह छोटे-छोटे सैंकड़ों व्रण मोटे हुए तो उनका गंठियल (नाड्युलर) कोढ़ से साम्य रहता है।

क्रियाशील रुग्णक वर्तुलाकार बढ़ते जाते हैं और एक दूसरे में घुसकर परस्पर गुंथ जाते हैं। वे कभी-कभी कई महीनों, वर्षों अथवा सदैव सुप्त (अक्रियाशील) दशा में रहते हैं।

(२) स्पर्शशून्य उपप्रकार

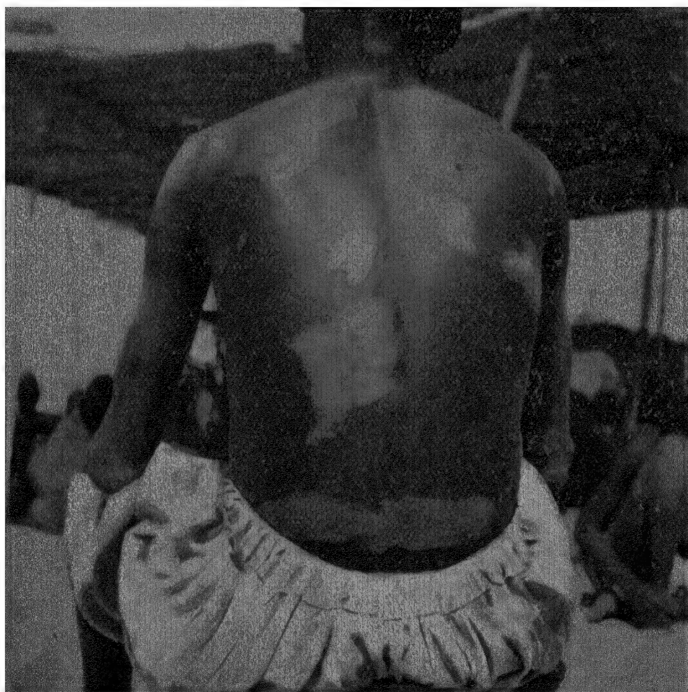
बिना व्रणों का सिर्फ मज्जातांत्वीय कुष्ठ का यह उपप्रकार है। यह पृष्ठीय मज्जातंतु के कुष्ठविकृत होने से पैदा होता है। रुग्णकों का मज्जातंतुओं में का संसर्ग मुख्य स्तम्भ तक फैलते जाने से यह प्रकार हो जाता है। बहुत बार त्वचा अथवा पृष्ठीय मज्जातंतु के प्रत्यक्ष विकृत न

चित्र ८



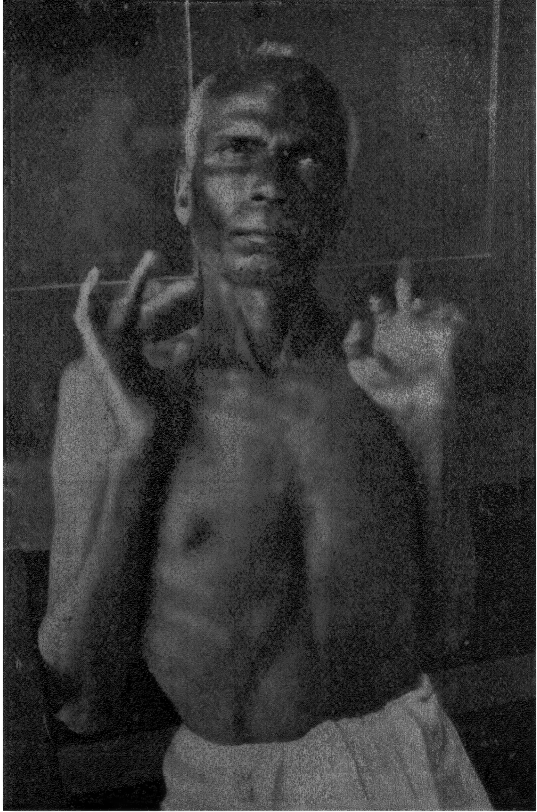
मज्जातांत्वीय (सौम्य) कुष्ठ, म$_{१}$ प्रकार।

चित्र ६



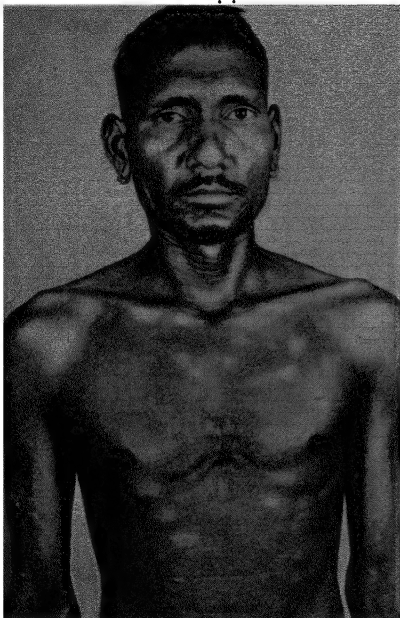
मज्जातांत्वीय (सौम्य) कुष्ठ, म$_2$ प्रकार ।

चित्र १०



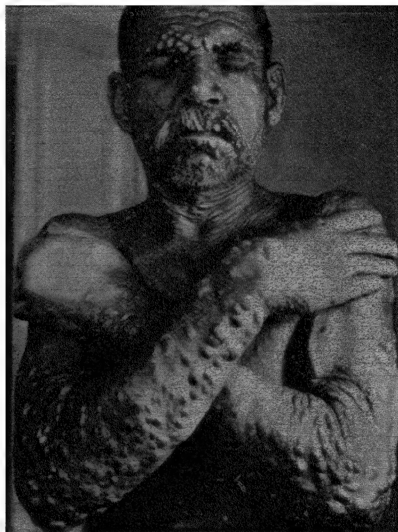
प्रगत मज्जातांत्वीय कुष्ठ, $म_3$ प्रकार; पंजाकृति हात;

चित्र ११



कालकुष्ठ – $क_१$ प्रकार।

चित्र १२



कालकुष्ठ $क_३$ प्रकार, गांठयाल कुष्ठ

मिलने पर भी वैसा हो जाता है। विकृत हुए एक या अनेक मज्जातंतुओं में कुछ लक्षण दिखाई देने लगते हैं। उन्हें नीचे लिखे अनुसार रखा जा सकता है—

१—पृष्ठभाग की संवेदना शक्ति का बिगाड़। इसका आरंभ पृष्ठ-भाग से होता है और विकृत अवयव के अन्दर बढ़कर वह उसमें व्याप्त होने लगता है।

२—विकृत भाग में पसीना आने की क्रिया में खराबी। उसकी वजह से खुश्की आती है। रूसी या खाल छुटती है।

३—विकृत मज्जातंतुओं से पोषित स्नायु में क्षीणता आने से क्रिया शक्ति का अंशतः वा पूर्णतः लोप और उसके कारण पैदा होनेवाली विरूपता।

४—पोषण विषयक विकृति—हाथ-पांव की हड्डियां चिनकही हो जाती हैं अथवा पूर्णतः सूख जाती हैं। वेधक व्रण (परफोरेटिंग अल्सर) होते हैं। उसमें हड्डी सड़ जाने की वजह से अस्थि-कोथ (नेक्रासिस) हो जाता है। वह खींचकर बाहर निकाला जा सकता है। इस खराबी से पैदा होनेवाले दूसरे अप्रत्यक्ष परिणाम भी होते हैं।

साधारणतः नित्य के विकृत होनेवाले मज्जातंतु आरत्निक, पेरोनियल और बृहत् बाह्यकर्णीय होते हैं। घुटने के ऊपर की ओर के आरत्निक मज्जातंतुओं की विकृति स्पष्ट रूप से पहचानी जाती है। उसकी वजह से कानी अंगुली, अंगूठे के पोरुए और हाथ और प्रकोष्ठ (फोर आर्म) के आरत्निक द्वारा व्याप्त भाग में स्पर्शशून्यता आती है। फिर हाथ के सूक्ष्म स्नायुओं को लकवा होता है; और वह पक्षियों के पंजे के आकार-सरीखा 'पंजाकृति' (क्ला हैंड) हो जाता है। पेरोनियल मज्जातंतु घुटने की गुल्फास्थि (फिब्यूला) की ओर झुकता है, वहां साधारणतः विकृति

आ जाती है। उसकी वजह से पैर का पीछे का हिस्सा और पैर की नली का आगे का हिस्सा स्पर्शशून्य हो जाता है। पेरोनियल स्नायु की हलचल की शक्ति क्षीण होजाती है। पैरों में एक प्रकार की विकृति आ जाने से चाल भचककर पड़ने लगती है। पैर की नली के पीछे के हिस्से की ओर नीचे उतरकर फिल्ली तक जानेवाली पीछे की जंघास्थिगामी (टिबियल) मज्जातंतु फिल्ली के भीतर और बाहर की ओर विकृत होते हैं। उसकी वजह से पांव की नली सुन्न हो जाती है। बाहरी त्वचा विकृत और खूब मोटी हो जाती है। पांव के तलुए पर वेधक व्रण उत्पन्न हो जाते हैं।

विकृत हुए मज्जातंतु साधारणतः मोटे और कितनी ही बार तो बहुत मोटे हो जाते हैं। आरत्निक और पेरोनियल दशा में यह विशेषरूप से होता है। कभी-कभी मज्जातंतुओं की विकृति के कारण उसमें बिना मुंह का फोड़ा अमुखव्रण हो जाता है। इसका पहले उल्लेख होचुका है।

प्रकोष्ठीय (रेडियल) मध्यगत (दंड और प्रकोष्ठ की मध्यरेखा को जानेवाला, मीडियन) और मस्तिष्क से निकलनेवाले पांचवें और सातवें, शीर्षीय (क्रेनियल) मज्जातंतु भी मोटे होनेवालों में से हैं। प्रकोष्ठीय और मध्यगत मज्जातंतु के विकृत होने से हाथ में शून्यता आती है। पोषणविषयक खराबी पैदा होती है।

मस्तिष्क से निकलनेवाले ५ वें और ७ वें मज्जातंतु के कुष्ठ-विकृत होने से आंखों के पारदर्शी पटल (कार्निआ) को स्पर्शशून्यता घर लेती है। चेहरे और अक्षिकोष (आर्बिट) के स्नायु की संचालन शक्ति लुप्त हो जाती है, नेत्रपटल बाहर की ओर निकल आते हैं और नेत्रावरण-- पलकें (कंजन्क्टिव्हा) खुली और असंरक्षित रहती हैं। आंखें बंद नहीं हो पातीं। इससे आंखों में कोई चीज पड़ने पर पता नहीं चलता--उसका स्पर्श नहीं मालूम होता है। इससे हानि होने का बड़ा डर रहता है। बहुत

बार नेत्रावरण की जलन (कंजक्टिविटिस) पैदा हो जाती है अथवा पटल पर व्रण हो जाते हैं।

स्पर्शशून्य सौम्यकुष्ठ जब जोर पकड़ जाता है तो ऐसे रोगी के पूरे-के-पूरे दोनों हाथ-पैर, सारा धड़ और चेहरा स्पर्शशून्य हो जा सकता है। अपोषण क्षय (लकवा) और पोषण विषयक दूसरी खराबी पैदा हो जाती है। हाथ-पांवों पर और चेहरे पर व्यंगता और कुरूपता आजाती है।

इस स्पर्शशून्य उपप्रकार में सूक्ष्म दर्शक के द्वारा कुष्ठजंतु बहुधा नहीं पाये जाते।

(३) मिश्र प्रकार

मंडलीय और स्पर्शशून्य दोनों उपप्रकार एक ही रोगी मे एकत्र भी हो सकते हैं। यह माना जा सकता है कि सौम्यकुष्ठ में त्वचा पर के चकत्ते, पृष्ठीय मज्जातंतु और उसके मुख्य स्तंभ तक ही संसर्ग मर्यादित रहता है। नियमानुसार तो शरीर भर में ऐसी खराबी नही आती है। कालकुष्ठ से लौटकर सौम्यकुष्ठ में आये हुए रोगी में अथवा कुष्ठ-प्रतिक्रिया शुरू हुए रोगी में शरीर भर में खराबी होती है।

ऊपर वर्णन किये हुए सब लक्षणों में (१) पृष्ठीय मज्जातंतु की निश्चित सख्ती और (२) संवेदना का ह्रास ये दोनों लक्षण कोढ़ का निदान करने में निर्णायक हैं।

कालकुष्ठ-प्रकार

कोढ़ के मुख्य दो प्रकारों की व्याख्या देते हुए, जैसा कि कहा जा चुका है, उग्र अथवा तीव्रतर रूप के रुग्णकों में यह कालकुष्ठ प्रकार पाया जाता है। उसमें रोग-संसर्ग-संबंधी पेशीजाल की प्रतिक्रिया करीब-करीब नहीं-जैसी होती है। पेशीजाल में कुष्ठजन्तुओं की संख्या बे-रोकटोक बेहद बढ़ती और फैल जाती है। पेशीजाल उनकी कोई प्रतिक्रिया मात्र

नहीं करता। मज्जातांत्वीय प्रकार की अपेक्षा इस प्रकार में व्रण अथवा रुग्णक अस्पष्ट उभरे हुए रूप में पाये जाते हैं। वे शरीर में अधिक प्रमाण में फैले हुए होते हैं। त्वचा, मज्जातंतु, श्लेष्मलत्वचा, रसग्रंथि और भीतरी अवयवों तक बहुधा रोग-संसर्ग पहुंचा हुआ रहता है। प्रकट-लक्षण-दृष्टि से मुख्य रुग्णक त्वचा और श्लेष्मलत्वचा में होते हैं। इस प्रकार में कुष्ठग्रंथि (नाड्यूल्स) पैदा होती है । साधारणतः (हिंदुस्तान में तो) विशेष खराबी की हालत के कुछ उदाहरणों में वह पाई जाती है। कुछ कार्यकर्ताओं का जो यह खयाल है कि कुष्ठग्रंथि का मिलना इस प्रकार का एक लक्षण है, यह सही नहीं है। कालकुष्ठ-प्रकार की त्वचा के रुग्णक बार-बार होते हैं । अनुक्रम निम्नलिखित है—

१—तनिक-सा अस्पष्ट उभरे-रूप से सूजा हुआ फूला-सा भाग। बहुत बार उसपर सुर्खी, त्वचा पर एक प्रकार का चमकीलापन, स्पर्श मखमल-सा मुलायम।

२—रंग में बदले हुए चकत्ते अथवा अस्पष्ट ऊंचाई से घिरा हुआ त्वचा भाग । सौम्यकुष्ठ और कालकुष्ठ के चकत्तों का भेद भलीभांति पहचानना आना चाहिए। कालकुष्ठ के चकत्तों का ऊपरी हिस्सा अधिक गुलगुल होता है । उसपर एक तरह का चमकीलापन और मखमलीस्पर्श-सा होता है। ऊंचाई अस्पष्ट होती है, सिमटे हुए नहीं होते। इस दशा में स्पर्श-वेदना में परिवर्तन नहीं पाया जाता। पृष्ठीय मज्जातंतु सख्त नहीं हुए रहते। और सूक्ष्मदर्शक द्वारा अनेक कुष्ठजंतु पाये जाते हैं।

३—त्वचा अथवा उसके नीचे के पेशीजाल में कुष्ठग्रंथियां पैदा होती हैं। कभी ये गांठें आकार में बहुत बड़ी होती हैं। कभी बिलकुल नन्हीं फुंसी-सी दिखाई देती हैं।

४—गांठ फूटकर व्रण हो जाते हैं जो नम अथवा बहते रहते हैं।

कालकुष्ठ-प्रकार में आरंभ में रुग्णक कुछ विशिष्ट भागों में ही स्थानबद्ध रहते हैं। पर साधारणतः यह स्थानबद्धता ऊपरी ही होती है। क्योंकि दूसरी ओर के अविकृत भाग की सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा करने पर वहां भी कुष्ठजंतु पाये जाते हैं। कालकुष्ठ के प्रगत रोगी में शरीर पर की कुल त्वचा कुष्ठविकृत हो जाती है। रुग्णक बाहर सिर्फ कुछ विशिष्ट भाग में खास तौर से पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ मुंह, कान, पीठ, छाती, घुटना, केहुनी, पजे का ऊपरी हिस्सा। त्वचा के कालकुष्ठ से विकृत होने का एक लक्षण केशहानि (डीपिलेशन) होता है। सारे ही शरीर पर के बाल उड़ जाते हैं। खासकर चेहरे पर भौंहें, डाढ़ी और मोछ के बारे में यह दशा अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। अंडकोष पर के केश भी उड़ जाते हैं।

इस प्रकार में त्वचा के रुग्णक में स्पर्श-संवेदन संबंधी परिवर्तन नहीं पाया जाता। तथापि पृष्ठभागीय मज्जातंतु का स्तंभ विकृत हो जाने से हाथ-पैरों में थोड़ी-सी स्पर्शशून्यता आजाती है। साधारणतः लोग इसे मुर्दारपना कहते हैं। मज्जातंतु कुष्ठविकृत होते हैं, पर सौम्यकुष्ठ की अपेक्षा उसमें सख्ती कम मालूम होती है। स्पर्शशून्यता, पोषण-विषयक रुग्णक, लकवे इत्यादि का इस प्रकार के लक्षणों में गौण स्थान होता है। ऐसे रोगी में आगे चलकर त्वचा का रोग धीरे-धीरे कम होने से त्वचा के रुग्णक मुरझाने लग जाते हैं और उस जगह श्वेततंतु-पेशीजाल पैदा हो जाता है। जिससे सिकुड़न पड़ जाती है, विकृत त्वचा खंखरी हो जाती है। इस दशा में फिर वहां स्पर्शशून्यता आने लगती है और पोषण-विषयक रुग्णक दिखाई देने लगते हैं, यह ध्यान में रखना चाहिए। क्योंकि रोगी के सुधरने में उसके फिर सौम्यकुष्ठ में जाने और तब उसके लक्षण दिखाई देने की संभावना रहती है।

कालकुष्ठ प्रकार में श्लेष्मल त्वचा बहुधा विकृत हो जाती है । नाक, कंठ और स्वरयंत्र (लेरिंक्स) की श्लेष्मल त्वचा का पूर्ण कुष्ठविकृत होना संभव है । बहुत बार उसपर गांठ और व्रण भी पाये जाते हैं । नाक के ऐसे रुग्णकों की वजह से नासा-पटल नाक में का परदा, (सेप्ट्यूम) गायब हो जाता है और नाक बैठ जाती है, कंठ में घर्घराहट की आवाज आती है अथवा कभी-कभी श्वास-रोध भी होने लगता है । रोग की भयंकर अवस्था में आंखों का पारदर्शी पटल कुष्ठविकृत पाया जाता है । पलक और पुतली का जीर्ण दाह भी पाया जाता है । अंडकोष का विकृत होना भी मामूली बात है । जिसकी वजह से बहुत बार वहां के बाल झड़ जाते हैं । स्तन फूल जाते हैं । अंडकोष का अन्तःस्राव क्षीण होने की वजह से दूसरी खराबियां भी हो जाती हैं । शवच्छेदन होने पर दूसरे भीतरी अंग भी कुष्ठविकृत पाये जाते हैं, पर बाहरी लक्षण नजर नहीं आते ।

कालकुष्ठ का उपप्रकार नहीं है । उसके एक प्रकार को संकीर्ण अथवा विकीर्ण (डिफ्यूज) कालकुष्ठ कहते हैं । उसमें त्वचा पर सर्वत्र बिलकुल सूक्ष्म बूंद सरीखे असंख्य रुग्णक होते हैं । ऊपर नंबर एक में बताये अनुसार लाली, अस्पष्ट उभार, नरम गुलगुल स्पर्श वा विशिष्ट चमक उसपर होती है । विशेष अभ्यास के बिना इस किस्म की शीघ्र पहचान नहीं होती । हिन्दुस्तान में जब-तब यह किस्म पाई जाती है । पर उसे आज भी सब जगह स्वतन्त्र उपप्रकार नहीं माना जाता ।

ग्यारहवां प्रकरण

त्वचा के रुग्णकों की क़िस्में

त्वचा के रुग्णकों के मुख्य तीन प्रकार हैं – (१) मंडल, चकत्ते अथवा स्थानबद्ध उभरी हुई त्वचा के भाग, (२) सर्वगत अंतःसेक (इन्फिल्ट्रेशन) और (३) कुष्ठग्रंथि ।

चकत्ते अथवा मंडल

कोढ़ के चकत्तों के चार वर्ग किये जाते हैं ।

(१) सौम्यकुष्ठ के 'सादे मंडलीय' प्रकार के चकत्ते ।

(२) सौम्यकुष्ठ के 'सूक्ष्मग्रंथिल' प्रकार के चकत्ते ।

(३) कालकुष्ठ के अस्पष्ट उभरे, छूने में नरम हुए विशिष्ट चमकवाले चकत्ते । इन तीनों का वर्णन ऊपर आ चुका है । चौथे प्रकार के चकत्ते छोटे बच्चों में पाये जाते हैं । जो बच्चे रोगियों के संसर्ग में आते रहते हैं उनके अंगपर शुरू में बिलकुल छोटा फीका-सा चकत्ता दिखाई देता है । पर उस समय रोग-निदान के लिए जो तीन आवश्यक लक्षण हैं वे नहीं पाये जाते । कुछ समय बीत जाने पर उसमें वह लक्षण धीरे-धीरे प्रकट होने लगते हैं । ऐसे उदाहरणों में अधूरे लक्षण दिखाई देते हैं, शंका की गुंजायश रह जाती है, पर निश्चित निर्णय करने के पूर्ण साधन नहीं होते । ऐसे समय अनुभवी विशेषज्ञ निर्णय कर सकता है । इसे स्वतंत्र प्रकार माना जाय या नहीं, यह निश्चित नहीं हुआ है । पर इसी समय परीक्षा करके शक्य हो तो उपाय करना जरूरी है । दूसरे साधारण त्वचारोगों में भी ऐसे चकत्ते या फूले अनेक बार उठ आते हैं, उनमें भेद करना मुश्किल हो जाता है । इस प्रकार के चकत्ते कुष्ठ उत्पन्न हो जाने पर होते हैं या कुष्ठ के गर्भावस्था में रहने के समय के चकत्ते

होते हैं, इस सम्बन्ध में पन्द्रहवें प्रकरण में फिर उल्लेख किया जायगा।

बाह्य लक्षणों से, सूक्ष्मदर्शक से अथवा छीलन (सेक्शन) लेकर सूक्ष्म शरीर-शास्त्र दृष्ट्या (हिस्टालाजिकली) भी कभी-कभी परीक्षा करनी पड़ती है। सौम्यकुष्ठ में वाहिनी के सामने कणसंघ (ग्रेन्युलोमा) गाढ़ और सिमटा होता है। साधारणतः वह रोममूल और घर्मपिंड के आसपास अथवा नीचे के पेशीजाल में पाया जाता है। खासकर 'उपलेपक पेशी' (एपिथेलाइड सेल) होती है। उसमें 'दीर्घकाय' (ज्यांट्) पेशी भी साधारणतः पाई जाती है। जहां ज़ोरों की प्रतिक्रिया चलती है उन रुग्णकों में यह 'दीर्घकाय' पेशी तो बराबर ही पाई जाती है। इसके, विपरीत कालकुष्ठ दशा में रुग्णकों में कणसंघ ढीला और बिखरा हुआ होता है। जंतु पाये जाते हैं। उसमें 'कुष्ठपेशी' अथवा 'फेनपेशी' होती है। दीर्घपेशी प्रायः नहीं होती।

सर्वगत अन्तःसेक

ऊपर कहा जा चुका है कि कालकुष्ठ के क्षीण प्रतिकार के उदाहरण में यह सर्वगत अंतःसेक होता है, बाह्यतः समझने योग्य लक्षण कम होते हैं, जिसकी वजह से जानकारों से भी भूलें हो जाती हैं। सूक्ष्मदर्शक के द्वारा सिर्फ अनेक जंतु पाये जाते हैं। व्यवहार में ऐसों के रोग-निर्णय करने में बड़ा धोखा रहता है। वे पहचान में नहीं आते; सबमें मिलते-जुलते रहते हैं और बराबर छूत फैलाते रहते हैं।

कई बार इस प्रकार में त्वचा खूब मोटी होजाती है। अगर यह चेहरे पर हुआ तो वहां फूली हुई सूक्ष्म सिकुड़न-सी पड़ी दिखाई देती है। उसमें लाली आजाने से चेहरा सिंहमुखी (लिओन्टियासिस) दिखाई देता है। कान पर भी ऐसा ही होता है।

यह कहते सुना जाता है कि हथेली, पगथली और खोपड़ी पर रुग्णक नहीं पाये जाते, पर यह सही नहीं है। सर्वगत अन्तः सेक वहां भी फैलता है। पर हथेली और पगथली की मोटी त्वचा के कारण अथवा सिर पर बालों के आवरण के कारण सहज में वे लक्ष में नहीं आते।

कुष्ठ-ग्रंथि

साधारणतः जिस त्वचा में कुष्ठ-संसर्ग अच्छी तरह भिना हुआ होता है उस त्वचा में यह गांठ होती है। उसका रूप स्थायी होता है। कुष्ठ-प्रतिक्रिया में उठनेवाली गांठ का फिर दबना सम्भव रहता है। यह गांठ कुष्ठज पेशीजाल से बनी हुई रहती है। उसमें फूली हुई फेनपेशी होती है और उसमें कसकर कुष्ठजंतु भरे रहते हैं। ये सब श्वेत तंतु पेशीजाल द्वारा बंधे हुए से होने से गांठ की शक्ल बन जाती है जो जबतक नवीन होती है नरम रहती है। उसमें रसवाहिनियां भी होती हैं। पुरानी होने लगने पर श्वेततंतु पेशीजाल सिकुड़ने लगता है और वह कड़ी बन जाती है। त्वचा में अथवा उसके नीचे के पेशीजाल में भी वह होती है। उसके हमेशा के अड्डे तो हैं खास तौर से आगे निकले हुए अवयव जैसे चेहरा, कान, हाथ, ठेहुने, पैर या केहुनी। पर वह कहीं भी हो सकती है। नाक, मुंह, कंठ में भी होती है। हथेली, पगथली और खोपड़ी पर कभी-कभी ही होती है।

कभी-कभी यह गांठ फूट कर व्रण हो जाते हैं। साथ ही भीतरी मवाद बह जाता है। तब सूख जाता है अथवा बहुत दिनों तक बहाव जारी रहता है। इस स्राव में कुष्ठजंतु होते हैं। ऐसी दशा में संसर्ग फैलना आसान रहता है। पीछे मज्जातंतु में के अमुखव्रण का जिक्र आचुका है। इन दोनों प्रकार के व्रणों में जो भेद है उसे समझ रखना चाहिए। इन गांठों के होने का कोई निश्चित कारण नहीं बतलाया जा

सकता । जरासी ज़ख्म की जगह में कुष्ठजंतु ज्यादा तादाद में जमा हो जाते और बढ़ते हैं। सामने का पेशीजाल उसका विशेष प्रतिकार करता है। सम्भव है इस प्रतिक्रिया के कारण वह गांठ बन जाती हो।

बारहवां प्रकरण

विशिष्ट अवयवों के रुग्णक

त्वचा में और मज्जातंतु के कोढ़ के रुग्णकों के विस्तार-पूर्वक विवेचन करने के बाद अब विशेष अवयवों मे जो विशेष प्रकार के रुग्णक पैदा होते हैं सुगमता के लिहाज से उनका स्वतंत्र रूप से विचार करना और ज्यादा अच्छा होगा। ये रुग्णक साधारणत: कम पाये जाते हैं। रोग-निदान और उपचार की दृष्टि से उनका महत्त्व है। वे खासकर (१) आंख, (२) नाक, (३) मुंह और कंठ (४) श्वसनेंद्रिय और (५) जननेंन्द्रिय पर पाये जाते हैं। कोढ़ में व्रणों का भी अलग से विचार करना पड़ता है।

आंखों के रुग्णक

कोढ़ के कारण होने वाले रुग्णकों में आंखों के रुग्णक सबसे अधिक दु:खद और अपंग बनानेवाले होते हैं। इनका पहले प्रसंगवश उल्लेख आचुका है। पर उनका स्वतंत्ररूप से विचार करने की जरूरत है। इन रुग्णकों के पारस्परिक भिन्न दो वर्ग होते हैं। पहला प्रकार ५ वें और ७ वें शीर्षीय मज्जातंतु के विकृत होने से होता है। उसमें पारदर्शी पटल (कार्निआ) में बहरापन पैदा हो जाता है। पलकों की खुलने-बन्द होने की क्रिया में खराबी आती है। दूसरे प्रकार में आंख

के कोए या पुतली (लेन्स) प्रत्यक्ष कुष्ठविकृत हो जाती है। यह दशा भयंकरता प्राप्त रोगी में होती है। पहिला प्रकार मज्जातांत्वीय स्वरूप का होता है; दूसरा कालकुष्ठीय होता है।

(१) प्रतिकारक्षम उदाहरण में चेहरे पर मज्जातांत्वीय कुष्ठ के बड़े-बड़े रुग्णक होने पर सामने की त्वचा की नाई कोएका आगे का भाग भी सुन्न हो जाता है। चेहरे पर स्पर्श शून्यता आजाने पर भावव्यक्तकस्नायु पर असर होता है। इसके कारण उस स्नायु की सार्वकालिक निरोगी स्थिति नहीं रहती। उसकी क्रिया-शक्ति बिगड़ जाती है। विशेषकर पलकों को खोलने और बन्द करनेवाले स्नायु में यह स्पष्टत: प्रकट हो जाता है। पारदर्शी पटल की परावर्तन अथवा प्रतिक्षिप्त क्रिया (रिफ्लेक्स ऐक्शन) के निरस्त हो जाने से और पलकों के पूरे बन्द होने में असमर्थ होने से कोओं का नैसर्गिक संरक्षण नहीं हो पाता। विशेषकर निद्रा के समय यह संरक्षण न रह जाने से हानि होने की अधिक संभावना रहती है। विशेष संरक्षण का उपाय न किया जाने पर नेत्रावरण में जलन (कन्ज्याक्टिविटिस) होने लगती है। कई बार पारदर्शी पटल पर भी व्रण निकल आते हैं। भयंकरता को पहुंचे हुए उदाहरणों में पलकें बाहर निकल जाती हैं। पलकों के भीतरी भाग पर अश्रुनलिका के जो सूक्ष्म छिद्र हैं वे भी इसकी वजह से बाहर निकल आते हैं और खुले रह जाते हैं। आंसू गाल पर बहते रहते हैं। अश्रुकोष (लक्रिमल सक्) जब प्रत्यक्ष रूप से विकृत हुआ रहता है अथवा नाक में रुग्णक होते हैं, तब अश्रुमार्ग (लक्रिमल डक्ट) बन्द-सा हो जाता है। उसमें अमुखव्रण पैदा होने की संभावना रहती है।

(२) कोओं के प्रत्यक्ष रूप से कुष्ठविकृत होने से होनेवाले काल-

कुष्ठीय रुग्णक इस दायरे में पड़ते हैं। चारों ओर की त्वचा के पूर्णतः विकृत हुए बिना कोये प्रत्यक्ष रूप से कुष्ठविकृत नहीं होते। पहला संसर्ग रक्तवाहिनियों (ब्लड वेसल्स) द्वारा जाकर एकत्र हुए जंतुओं के कारण होता होगा। अधिक उदाहरणों में चेहरे के चारों ओर की त्वचा से रस-वाहिनियों (लिंफटिक्स) के द्वारा संसर्ग का पहुंचना संभव है। आंख के ऊपर की भांति ही भीतरी अंग में भरपूर संसर्ग पहुंच जाने पर भी रोगी को खुद समझने लायक (स्वसंवेद्य) अथवा बाह्य लक्षण बिलकुल ही दिखाई नहीं देते। आंखें विकृत होने पर कुष्ठ प्रतिक्रिया साधारणतः लक्षित होती। ऐसे समय जांच करने पर नेत्रावरण में रक्त-संचय (कन्जेक्शन) पाया जाता है। प्रकाश असह्य हो जाता है (फोटो-फोबिया)। प्रकाश की आंख के अंदरूनी हिस्से में जो प्रतिक्रिया होती है अथवा दृष्टि का मेल साधने की जो शक्ति होती है उसमें कुछ खराबी पैदा हो जाती है।

कुछ उदाहरणों मे बाह्य अवयव विशेष विकृत दिखाई देते हैं। नाक की ओर आंखों के कोनों में तिकोने आकार का गाढ़ा-सा भाग (टेरेजियम) एकत्र होजाता है। वह पारदर्शी पटल पर भी पसरने लगता है। जैसे शिराजाल रोग में (पनस्) होता है वैसे ही पारदर्शी पटलों का स्वरूप रुखड़े कांच सरीखा हो जाता है। यह बहुधा ऊपर की अर्धाली में होता है। पर कुछ समय में कनीनिकापुतली (प्यूपिल) को भी ग्रस लेता है। बाहरी अंगों के विकृत होने पर अन्दर का भी प्रायः रक्षित नहीं रहता है। अट्रोपिन डालने से पुतली(प्यूपिल) के बढ़ने की जो क्रिया होती है वह अव्यवस्थित अथवा मन्द हो जाती है। कभी-कभी वह पूर्ण स्थिर हुई दीखती है। सब कालकुष्ठीय उदाहरणों में चेहरे पर रुग्णक होने पर अट्रोपिन डालकर पुतली की क्रिया की जांच

कर लेना अच्छा है। कारण, बाहर से निरोगी दिखाई देनेवाले नेत्रों मे भी पुतलियों की छोटी-बड़ी होने की शक्ति बिगड़ी हुई होती है। इसके सिवा भीतरी अवयवों में संसर्ग पहुंचने के बारे में जानने का वह एक साधन हो जाता है। शुभ्रपटल (स्क्लेरा) दुरुस्त रहने पर भीतर के अवयव के विकृत होने की संभावना नहीं रहती। आंखों की बाहर से बहुत थोड़ी दिखनेवाली विकृति भी कुष्ठ-प्रतिक्रिया में दुःसह चक्षुपीड़ा (आपथल्मिया) पैदा कर देती है।

नाक के रुग्णक

नाक की श्लेष्मलत्वचा की झिल्ली में अथवा खरोंच लगे हुए भाग से संसर्ग शरीर में फैलता है इस अनुमान की पुष्टि में काफी प्रमाण मिलते हैं। नाक के भीतरी हिस्से का उपलेपक (एपिथेलियल्) पेशीजाल त्वचा की अपेक्षा पतला होता है। इसकी वजह से और विशेषतः खाज के कारण नाखून से खुजला देने पर उसमें से जंतुओं के अन्दर घुसने का सुभीता हो जाता है। त्वचा के सौम्य अथवा कालकुष्ठ के जितने प्रकार के रुग्णकों का जिक्र ऊपर किया जा चुका है उतने सब रुग्णक नाक की श्लेष्मलत्वचा में भी होते हैं। सौम्यकुष्ठ में त्वचा की भांति श्लेष्मलत्वचा स्पर्शशून्य रहती है। बहुत रोगियों में जुकाम नहीं बहता, ऐसी दशा में श्लेष्मलत्वचा में सतत रहनेवाली नमी और सुर्खी नहीं पाई जाती। वह सूखी और फीकी दिखाई देती है।

कुछ अन्य उदाहरणों में नाक के भीतरी भाग में संसर्ग बहुत ही भिना हुआ होता है। नीचे की भाले के आकार की हड्डी (इन्फीरियर टर्बिनेट) लाल और गंठीली दिखाई देती है। नाक के परदे पर व्रण होते हैं। अथवा पुराने व्रणों के काले-काले-से दाग होते हैं। नाक के छिद्र सूखे हुए नेटे (नाक की श्लेष्मा) के कारण बंद होजाने से रोगी को बहुत

पीड़ा होती है। रक्त-प्रवाह का अभाव हो जाने अथवा व्रण हो जाने के कारण कूर्चामय (कार्टिलेजिनस्) आवरण में छेद हो जाते हैं अथवा वह गायब हो जाता है। उपदंश रोग में जैसे हड्डी के आवरण जाते रहते हैं वैसा कोढ़ में बिलकुल नहीं होता। इन दोनों रोगों में यह फर्क ध्यान में रखना चाहिए। कूर्चामय आवरण के जाते रहने से नाक चपटी हो जाती है। पर खास कर के नाक के भीतर व्रण हो जाने से श्वेततंतुओं का जो आकुंचन होता है उसकी वजह से ऐसा होता है।

मुंह और कंठ के रुग्णक

मुंह के चारों ओर की त्वचा विकृत होने के बाद साधारणतः होठों पर रुग्णक पाये जाते हैं। पर प्रारम्भ में पहले वहां नहीं होते। होठ के बाहर की ओर किनारे पर बहुत बार कुष्ठ-ग्रंथि दिखाई देती है। होठों पर के और चारों ओर के रुग्णक जब बहुत बढ़ जाते हैं तो आकुंचन होता है और मुंह पूरा खुल नहीं सकता (स्टेनासिस)।

कालकुष्ठीय-प्रकार के भयंकरता प्राप्त रोगी की जीभ पर गांठ भी साधारणतः उभर आती है।

तालू पर गंठीले अथवा बिखरे रुग्णक उठ आते हैं। कुष्ठविकृत पेशीजाल के फटने से या नष्ट हो जाने से मृदु तालु (साफ्ट प्लेट) और सप्तपथद्वार[1] (फासेस) क्षुब्ध और व्रणयुक्त हो जाते हैं। इन

---

[1] मुंह खोलने पर दोनों कमानियों के पीछे जो मार्ग है उसे सप्तपथ (फॅरिंक्स) कहते हैं। कारण वहां सात मार्ग आकर मिले हैं। दोनों कमानियों के बीच के दरवाजे को सप्तपथद्वार (फासेस) कहते हैं। सप्तपथ और सप्तपथद्वार इन दोनों को मिलाकर कंठ कहते हैं। सप्तपथ में मिलने वाले सात मार्ग—१ मुंह का मार्ग, २-३ नाक के मार्ग के दो द्वार, ४ अन्न-मार्ग, ५ श्वासमार्ग, ६-७ कान और कंठ को जोड़नेवाली नलियों के दोनों छिद्र।

व्रणों के अच्छे होने पर चकत्ते का हिस्सा सिकुड़ता है। उसके कारण सप्तपथद्वार घिरा-सा होता है। फुफ्फुस में हवा लेजानेवाली नलिका (एअर पैसेजेस) और श्वास-मार्ग के परदे (एपिग्लाटिस) के चारों ओर के व्रण दुरुस्त होकर सिकुड़ते हैं। उसकी वजह से श्वास-मार्ग का अंशतः अवरोध होता है। यह प्रकार बहुत तीव्र होने पर श्वासनलिका पर शस्त्रक्रिया (ट्रकिआटामी) भी करनी पड़ती है। कोढ़ में तालू में छिद्र हुए भी पाये जाते हैं। पर साधारणतः वह सहचारी उपदंश का परिणाम होता है। नाक की श्लेष्मल त्वचा से रसवाहिनियों के द्वारा कंठ साधारणतः विकृत हो जाता है।

नाक, मुंह के व्रण अच्छे होने पर जब श्वेततंतु उत्पन्न होने की क्रिया (फायब्रासिस) विशेषता से होती है तब गंधज्ञान और रुचिज्ञान पूरा अथवा कुछ अंश में गायब हो जाता है। सौम्यकुष्ठ में जिह्वा के मज्जातंतु (लिंग्वल नर्व) विकृत हुए रहते हैं; और रुचिज्ञान बिगड़ जाता है। कुष्ठविकृत पेशीजाल नष्ट होजाने की वजह से जीभ और तालू पर गहरा रंग आजाता है। स्वरयंत्र (लेरिंक्स) विकृत हो-जाने से कोढ़ी की आवाज प्रायः भर्रा जाती है। मुख्य स्वरतंतु (वोकल-कार्ड) भी कुष्ठविकृत हो सकते हैं।

श्वसनेन्द्रियों के रुग्णक

कालकुष्ठ की विकराल दशा के उदाहरण में रोगी के थूक के साथ मवाद मिली हुई आती है। उसमें अनेक कुष्ठजंतु पाये जाते हैं। प्रत्यक्ष फुफ्फुस कुष्ठग्रस्त होते हैं या नहीं इसके बारे में संशय है। श्वास-नलिका (ट्रकिआ) में कुष्ठग्रंथि फूटने की वजह से ऐसा थूक आता होगा। अथवा ऊपर की श्वासवाहिनियां (ब्रान्काय) बहुत ही विकृत हो जाने की वजह से ऐसा हो सकता है। कुछ उदाहरणों में यह पूय-

स्राव नाक अथवा कंठ में से आता होगा। क्षय और कोढ़ दोनों बहुत बार एक साथ होते हैं। उनकी भेदकारी (डिफरेन्शियल) जांच करनी चाहिए। संशय होने पर सफेद चूहों के बदन में उस थूक का इंजेक्शन देकर निर्णय किया जा सकता है। अगर कोढ़ होगा तो कोई नतीजा नहीं होगा। क्षय होने पर चूहे पर रोग का असर होगा।

जननेन्द्रिय के रुग्णक

कोढ़ के समस्त प्रगत उदाहरणों में वीर्यपिंड और अंडकोष कुष्ठ-विकृत होते हैं। गोलियों के भीतर और दोनों गोलियों के बीच के भाग में, दोनों जगह संसर्ग फैलता है। वीर्यनलिका में भी संसर्ग फैलता होगा। गोलियों का पेशीजाल जाता-रहता है और श्वेततंतुओं का एक गोला-सा बन जाता है। वहांके बाल झड़ जाते हैं। अंडकोष की अन्तः-स्राव क्रिया बन्द हो जाने से स्तन बेतरह फूल जाते हैं। नारंगी के आकार के या उससे भी बड़े हो जाते हैं। जबतब उनमें वेदना होती है। वह कुछ काल तक जैसे-के-तैसे रहते हैं। उनमें भी कुछ पारी होती है।

इसके सिवाय, कोढ़ में नपुंसकत्व आ जाता है। अन्तःस्राव प्रणाली (इंडोक्राइन सिस्टम) में परस्पर सम्बन्ध बिगड़ जाता है। उसे वक्त रहते न सुधारा गया तो रोगी की मानसिक और शारीरिक स्थिति गिर जाती है और वह उदास रहता है।

शवच्छेद करने पर रजःपिंड (ओवरी) और मूत्रपिंड (किडनी) कुष्ठविकृत पाया जाता है। पर जीवितावस्था में उनके काम में कोई खराबी नहीं दिखाई देती।

कोढ़ में व्रण

पूर्वकथनानुसार ये व्रण दो प्रकार के होते हैं। उनका भेद समझना बहुत ज़रूरी है। पहले प्रकार के व्रण मज्जातंत के द्वारा मिलने-

वाले पोषण के नष्ट होने से पैदा होते हैं। वे पैरों को नीचे से ऊपर की ओर की वेधन क्रिया की तरह काटते जाते हैं। इसलिए उन्हें 'वेधक व्रण' (परफोरेटिंग अल्सर) कहते हैं। ऐसे व्रणों में से कुष्ठजंतु साधारणतः प्रायः बाहर नहीं निकलते। उनसे जितना डरा जाता है उस हिसाब से वे रोग कम फैलाते हैं।

दूसरे प्रकार के व्रण 'कालकुष्ठीय व्रण' हैं। वे त्वचा अथवा श्लेष्मल-त्वचा में के रुग्णकों के फूटने से होते हैं। ऐसे व्रणों के पाये जाने की नियमित जगह नथुने हैं। ऐसे व्रणों में से असंख्य जंतु निकलते रहते हैं। कुष्ठग्रंथि फूटने से होनेवाले व्रण भी इसी दायरे में आते हैं। रोग को फैलाने में इन व्रणों का प्रमुख स्थान है।

मज्जातंतु में के अमुखव्रणों की एक अलग ही क़िस्म है। वे फूटकर बहने लगें तो उन्हें दूसरे व्रणों की भांति समझने में हर्ज नहीं है। उनका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

तेरहवां प्रकरण

कुष्ठ-प्रतिक्रिया

कोढ़ बड़ा जीर्ण रोग है। इसमें चढ़ाव उतार बहुत धीरे-धीरे होता है। रोगी में हफ्तों या महीनों तक भी कोई प्रत्यक्ष परिवर्तन नहीं होता। तथापि कुछ रोगियों में कुष्ठ-प्रतिक्रिया अथवा ज्वर की दशा आती है, उस समय रोग के लक्षणों में एकबारगी अचानक कुछ वृद्धि हो जाती है।

इस कुष्ठ-प्रतिक्रिया के कारण बहुधा दुर्बोध अथवा संशयित रहते

हैं। स्थूल दृष्टि से तो शरीर की पेशी की कार्यशक्ति अथवा चयापचय[1] (घटने-बढ़ने की) क्रिया में परिवर्तन पैदा करनेवाले अनेक कारणों से वह होती है। शीतज्वर अथवा मलेरिया सरीखे सहचारी रोगों के अथवा चेचक निकलने या शरीर को दुर्बल करनेवाले किसी भी कारण से वह हो सकती है। कोढ़ियों को पोटेशियम आयोडाइड पूर्ण मात्रा में देने पर वह प्रतिक्रिया हठात् पैदा की जा सकती है। हिड्नोकार्पस अथवा चालमुग्रा तेल, आर्सनिक (संखिया), पारा इत्यादि औषधियां अति मात्रा में देकर भी वह पैदा की जा सकती है। अनेक बार कुष्ठग्रस्त स्त्रियों की गर्भावस्था में वह हो जाती है। तथापि बहुत बार खास कारण समझ में नहीं आता।

कुष्ठ-प्रतिक्रिया के लक्षणों के संक्षेप में तीन भाग किये जाते हैं :-

१—त्वचा, मज्जातंतु, श्लेष्मल त्वचा, नेत्र के पुराने रुग्णकों में सख्ती, क्षोभ अथवा दाह और बाढ़।

२—शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों पर नये रुग्णक उत्पन्न होना।

३—अस्वस्थता, ज्वर इत्यादि।

प्रतिक्रिया के लक्षणों का स्वरूप रोग के प्रकार के हिसाब से बहुत बदलता है। सौम्यकुष्ठ में साधारणतः पुराने रुग्णक सख्त और लाल हो जाते हैं। उनमें वर्तुलाकार वृद्धि होती है। भिन्न-भिन्न अवयवों पर ललाई लिये हुए नये रुग्णक होते हैं। कुष्ठविकृत मज्जातंतु की सख्ती और दाह बढ़ता है। इसके कारण वेदना होती है, स्पर्शशून्यता में वृद्धि होती है। पर, सर्व शरीरगत अस्वस्थता, ज्वर वगैरा आम तौर से नहीं होता या बहुत थोड़े प्रमाण में होते पाये जाते हैं।

---

१. इष्ट को लेना अनिष्ट को छोड़ना, पेशी की इस क्रिया को मेटाबेलिज्म कहते हैं। उसीका अनुवाद 'चयापचय' किया गया है।

कालकुष्ठ प्रकार के रोगी में जब प्रतिक्रिया होती है तब त्वचा और श्लेष्मल त्वचा के रुग्णक लाल, सख्त और कभी-कभी व्रणयुक्त होजाते हैं। नई गांठें उठती हैं। त्वचा और उसके नीचे के पेशीजाल में अन्तःसेक फैलता है। श्लेष्मलत्वचा और आंखों के रुग्णकों के लक्षणों में वृद्धि होती है। इस खराबी के साथ-साथ उष्णतामान का बढ़ना, अंगों में लहर उठना, सिहरन होना, थकान—ग्लानि जान पड़ना, इत्यादि सारे शरीर पर असर डालनेवाले लक्षण भी होते हैं। ज्वर साधारणतः दोपहर को ३ से ५ बजे के बीच में कुछ ज्यादा रहता है, यह उसकी एक विशेषता होती है।

कोढ़ के मज्जातांत्वीय प्रकार में जब कुष्ठ-प्रतिक्रिया होती है तब लक्षणों में एकबारगी क्षोभ और वृद्धि होती है। पर विकृत भाग में कुष्ठजंतुओं की संख्या में कोई वृद्धि नहीं पाई जाती। इसे 'अर्लेजिक' रूप की मानने के लिए यह लक्षण पूर्ण प्रमाण है। उसमें कुष्ठजंतु अथवा तज्जन्य द्रव्य को सहन करने में शरीर असमर्थ हो जाता है या नाजुक हो गया जान पड़ता है। हमेशा तो नहीं पर बहुत बार रोग-निर्भयता (इम्युनिटी) में वृद्धि होती है। अवयवों में की दाहजनक खराबी बराबर के लिए चली जाती है, अथवा बहुत कालतक फिर नहीं होती। मज्जा-तंतुओं के लिए अलबत्ता जबरदस्त और स्थायी खतरा होने की सम्भावना रहती ह। उलटे कभी-कभी तो मज्जातांत्वीय प्रकार में प्रतिक्रिया के कारण रोग बढ़ने लगता है। इतना ही नहीं उसके कालकुष्ठ के दायरे में भी जाने की संभावना रहती है।

कालकुष्ठ प्रकार में प्रतिक्रिया के बाद रोग-निर्भयता बढ़ने की अथवा रुग्णकों के सुप्त अवस्था में जाने की बात साधारणतः नहीं देखी जाती। उलटे प्रतिक्रिया के बाद प्रतिक्रिया-सी होती है। रोगी

धीरे-धीरे क्षीण होता रहता है, उसकी हालत उत्तरोत्तर बिगड़ती जाती है। खयाल है कि कालकुष्ठ में संसर्ग-केंद्र (लेप्राटिक् फोकस्) के फूटकर शरीर में फैलने से यह प्रतिक्रिया होती होगी।

आरोग्य सुधर कर प्रतिकार-शक्ति के पूर्ववत् होने या बढ़ने पर कोढ़ी में एक प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। यह आरोग्यस्थापनारूपी (रिकवरी) प्रतिक्रिया उपर्युक्त प्रतिक्रिया से भिन्न होती है। इसका भेद समझ रखना चाहिए। एक प्रतिकार-शक्ति के घटने की वजह से होती है, दूसरी प्रतिकार-शक्ति के बढ़ने लगने के कारण होती है।

कुष्ठ-प्रतिक्रिया के संबंध में ध्यान में रखनेवाली एक और ज़रूरी बात है। प्रतिक्रिया कोई टिकाऊ अवस्था नहीं होती है। बिना किसी खास उपचार के भी थोड़े समय के बाद वह साधारणतः अपने आप दब जाती है। रोगी प्रतिक्रिया के पूर्व जिस दशा में था, फिर बहुधा उसी दशा में हो जाता है। इस बात पर गौर न करने के कारण बहुत बार गड़बड़ हो गई है। प्रतिक्रिया शीघ्रपरिणामी (अक्यूट) अथवा जीर्ण-विलंबी (क्रानिक) स्वरूप की भी हो सकती है।

चौदहवां प्रकरण

कोढ़ की वृद्धि और उतार का क्रम

हिन्दुस्तान में कोढ़ की हमेशा नहीं तो प्रायः सौम्यकुष्ठ से शुरूआत होती है और उससे आगे नहीं बढ़ता है। थोड़े से उदाहरणों में कुछ सप्ताह या कभी-कभी कुछ वर्ष बीतने पर कालकुष्ठ के रुग्णक पैदा होते हैं। इतनी तरक्की कर लेने पर रोग बहुधा धीरे-धीरे बढ़ता रहता

है। सारे शरीर पर की त्वचा विकृत हो जाती है। बीच में कोढ़ी सहचारी रोगों के पंजे में न पड़ा तो कालांतर में कोढ़ का अपने आप चले जाने की ओर रुख रहता है। रोग-संसर्ग नष्ट हो जाता है; शरीर पर व्यंग्यता और दाग भर रहता है। कोढ़ की सभी दशाओं में रोग को नियंत्रित करने की यह प्रवृत्ति होती है। जिन उदाहरणों में सौम्यकुष्ठ के छोटे दाग होते हैं, उनमें थोड़े समय में ही इस प्रकार रुकावट हुई दिखाई देती है। कालकुष्ठ के जोरदार उदाहरणों में रोग का सम्पूर्ण क्रम ३० से ४० वर्षों का होता है। उसके बाद रोग-संसर्ग नष्टप्राय होने की संभावना रहती है। परंतु इस हालत को पहुंचने के पहले ही दूसरे सहचारी रोगों की या अशक्तता की वजह से रोगी का देहान्त हो जाता है।

जब कोढ़ का उतार होने लगता है तब सूक्ष्म कणों से बना हुआ (ग्रन्युलर) पेशीजाल धीरे-धीरे नष्ट होकर उसके स्थान पर श्वेततंतु (फायब्रस) पेशीजाल पैदा होता है। ज्यों-ज्यों रुग्णक पतले होने लगते हैं त्यों-त्यों यह श्वेततंतु पेशीजाल सिकुड़ता जाता है। सौम्यकुष्ठ के दागों की बाढ़ मारी जाती है। ये पतले पड़ जाते हैं और उन पर खरोंट आजाता है। वर्ण और संवेदन में का ह्रास मात्र विशेष स्थायी होता है।

श्वेततंतु पेशीजाल उत्पन्न होने की क्रिया के कारण (फायब्रासिस) मज्जातंतुओं की मोटाई नष्ट हो जाती है, उल्टे वे बारीक हो जाते हैं। उसके संबंध से मज्जातंतुओं के पेशीजाल को दूसरा आघात भी लग जाता है। स्पर्शशून्यता में और पोषण विषयक रुग्णकों में उलटे प्रत्यक्ष वृद्धि होने की भी संभावना रहती है।

कालकुष्ठ प्रकार के रुग्णकों के सुधरने में त्वचा में के रोग का अन्तःसेक धीरे-धीरे विनष्ट होता जाता है। श्वेततंतु पेशीजाल उत्पन्न हो जाते हैं। पतलापन आता है। त्वचा में सिकुड़न पड़ जाती है और कुष्ठजंतु

क्रमशः नष्टप्राय हो जाते हैं। श्लेष्मलत्वचा और दूसरे कुष्ठविकृत पेशी-जालों में भी ऐसा ही परिवर्तन हो जाता है।

पन्द्रहवां प्रकरण

कोढ़ का निदान (रोग-निर्णय)

रोग-संसर्ग होने के बाद रोग कैसे-कैसे बढ़ता जाता है, उसके कौन-कौन से लक्षण किस-किस अवयव में दिखाई देते हैं, उसमें चढ़ाव-उतार होते हुए कौन-सा फर्क पड़ता है, इन सब बातों का पहले विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। किसी अन्य रोग के निदान में या उस रोग का प्रकार तय करने में जैसे रोगी की संपूर्ण परीक्षा की जाती है, वैसी ही कोढ़ी की भी की जानी चाहिए। कोढ़ में बाह्य प्रकट लक्षणों से,सूक्ष्म-दर्शक-परीक्षा और सूक्ष्म शरीरशास्त्र-दृष्टि-परीक्षा के आधार पर रोग-निर्णय किया जाता है। कोढ़ के निदान में उपयोग में आनेवाली रक्त-जलविषयक (सीरालाजिकल) परीक्षा अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। यह पुस्तक किसी डाक्टर या वैद्य के लिए नही बल्कि सर्वसाधारण जिज्ञासु नागरिकों के लिए है, अतः उन्हें एक सूचना देना जरूरी है। कोढ़ का निदान करना बड़ी जोखिम का काम है। जो इसके जानकार हैं उनके सिवा दूसरों को कभी यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक को कोढ़ है। शंका होने पर स्वयं सावधान रहना चाहिए। उसे फौरन डाक्टर से जांच कराने की सलाह देनी चाहिए। बहुत बार सिर्फ कोढ़ का नाम सामने आते ही रोगी को धक्का लगता है। इसलिए अनधिकृत लोगों को निर्णय नहीं करना चाहिए. यह दोनों पक्षों के लिए हितकर है।

महारोग के निर्णायक लक्षण

कोढ़ का निदान करने में निर्णायक (कार्डिनल) लक्षण सिर्फ तीन ही हैं–(१) पृष्ठीय संवेदना में ह्रास, (२) मज्जातंतु की सख्ती और (३) सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा में कुष्ठजंतुओं का पाया जाना। इनपर जितना जोर दिया जाय उतना ही कम है। यह मुख्य नियम है कि इन तीन लक्षणों में से कोई न मिले तो कभी कुष्ठ रोग नहीं मानना चाहिए। शायद ही कभी इस नियम का उल्लंघन होता है। पर ऐसे अपवाद प्रसंगों में खास कारण अथवा परिस्थिति होती है। इसका निर्णय करना विशेषज्ञों का काम है। कोढ़ से कितना भी हूबहू मिलनेवाला उदाहरण क्यों न हो, इन तीन लक्षणों में से कोई एक-दो निश्चय रूप से मिले बिना कभी रोग-निर्णय नहीं करना चाहिए। ये तीन लक्षण कैसे ठहराने चाहिए, इसका तरीका नीचे लिखे अनुसार है।

१. **पृष्ठीय संवेदना में ह्रास**––संवेदना में स्पर्श-संवेदना, सुख-दुःख-संवेदना और शीत-उष्ण-संवेदना इन तीनों की परीक्षा करनी चाहिए। यह संवेदना का ह्रास प्रत्यक्ष दागों पर अथवा अवयव से बिलकुल दूर के अंग पर होता है। इस बात का खयाल रखना चाहिए कि बहुत बार स्पर्शशून्यता अधूरी होती है, पूर्णरूप से नहीं होती कुछ रुग्णकों में वह स्पष्ट होती है, कुछ में नाममात्र को होती है। स्पर्शशून्यता जांचने के लिए बिल्कुल पतले कागज का तिकोना टुकड़ा, पांख या बत्ती की तरह बटी हुई रुई लेनी चाहिए। रोगी की आंखों पर पट्टी बांधें या मूंदने को कहें। फिर निरोगी और संशयित त्वचा को उलट-पलटकर स्पर्श करें और रोगी को अंगुली लगाकर बताने को कहें। अगर रोगी बताने में गलती करने लगे तो स्पर्श-संवेदना में खराबी होगई है यह मानने में हर्ज नहीं है। कभी-कभी इस प्रकार बार-बार परीक्षा करनी पड़ती

है। रुग्णक के बिचले हिस्से और किनारे के हिस्से में स्पर्शज्ञान एक सरीखा है या नहीं यह देखना चाहिए। बहुत बार स्पर्शज्ञान तो होता है पर सुख-दुःख-संवेदना में खराबी आगई रहती है। इसके लिए एक-से सिरेवाली दो आलपीनें लेकर ऊपर बताये अनुसार जांचें। शीत-उष्ण का भान है या नहीं इसकी जांच के लिए दो नलियों में अलग-अलग गरम और ठंढा पानी लेकर ऊपर के ढंग से जांचें। बहुत बार रोगी का जबानी जवाब विश्वसनीय नहीं होता। परीक्षक को अपने निर्णय को ही प्रमाण मानना चाहिए। छोटे बच्चों के बारे में सही उत्तर मिलना सम्भव नहीं है। ऐसे मौकों पर निर्णय को टाल देना चाहिए और बारंबार देखना चाहिए। यह न भूलें कि भौंह के भाग में और सख्त त्वचा के अवयवों का स्पर्शज्ञान हमेशा ही कम होता है।

२. **मज्जातंतु में सख्ती**—एकाध बहुत कम ही कभी-कभी दिखाई देनेवाले ऐसे-वैसे रोगों को छोड़कर कोढ़ के सिवा किसी रोग में मज्जातंतु सख्त नहीं होते। इसलिए कोढ़ को पहचानने का यह उत्तम साधन है। पर दुर्भाग्यवश यह सख्ती पहचानना विशेषज्ञों के लिए भी बहुत बार मुश्किल होजाता है। शरीर में मज्जातंतु के बंटवारे का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर दीर्घ अनुभव से यह पहचान आ सकती है। सख्त होने की शंका होने पर दोनों अंगों के मज्जातंतु की तुलना करनी चाहिए। दोनों सख्त हों तो उसी आकार के दूसरे मनुष्य के मज्जातंतु से तुलना करनी चाहिए। इसके बिना निर्णय नहीं करना चाहिए। अनुभव के बिना ऐसे मौकों पर निर्णय करना मुश्किल होता है।

३. **सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा में कुष्ठजंतु का मिलना**—सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा करने का काम विशेषज्ञों का है। साधारण पाठकों के लिए उस रीति के वर्णन की जरूरत नहीं है। पर यह परीक्षा कब करनी जरूरी

है कब नहीं, यह सबको जानना चाहिए। ऐसे ही किस प्रकार में वह साधारणतः अस्तिपक्ष में होती है अथवा नहीं होती इसकी जानकारी रहना भी उपयोगी है। यह परीक्षा कोढ़ का निदान करने की अपेक्षा रोगी सांसर्गिक है या नहीं इस निश्चय में अधिक उपयोगी है। निदान करने में हमेशा उसका उपयोग नहीं होता; और न जरूरत ही है। किसी रुग्णक में किस प्रमाण में साधारणतः जंतु पाये जाते हैं इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

अपवादात्मक उदाहरण

कोढ़ के कुछ अपवादात्मक उदाहरण ऐसे पाये जाते हैं कि जिनमें ये मुख्य निर्णायक तीनों लक्षण नहीं होते या संशयग्रस्त होते हैं। छोटे बच्चों के बारे में ऐसा अनेक बार होता है। यह पहले बतलाया जा चुका है। ऐसे प्रसंगों पर विशेषज्ञ ही निर्णय कर सकते हैं। कुष्ठ-रोगी की सोहबत से उत्पन्न कुष्ठ में (संसृष्ट में) कुछ अधूरे लक्षण पाये जायं तो साधारण पाठकों को चाहिए कि फौरन उसे उचित परीक्षा करा लेने को कहें, उसमें आलस्य न करें। समाज में से कोढ़ को नेस्तनाबूद करना हो तो जहांतक संभव हो शीघ्र निदान होना चाहिए, तभी सफलता की आशा है। इसपर जितना जोर दिया जाय कम है।

भेदकारी चिकित्सा (डिफरेन्शियल डायग्नोसिस)

निर्णायक लक्षण तय करने के बाद कोढ़ सरीखे दिखाई देनेवाले दूसरे रोग कौन से हैं और उनमें क्या भेद हैं इसका विचार करना आवश्यक है। क्योंकि दूसरे रोगों में भी ऐसे ही बाह्य लक्षण मिलने संभव हैं। उनका भेद समझ में आये बिना रोग-निर्णय नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, शेरणी रोग में त्वचा पर फीके सूक्ष्म दाग हो जाते हैं। पर उनमें स्पर्शज्ञान रहता है, पसीना आता है, बाल भी पाये जाते हैं। 'पीले कोढ़' रोग

के बारे में तो बहुत बार गलतियां होती हैं । इसकी वजह से उसका 'श्वेत कुष्ठ' यह गलत नाम पड़ गया है। पर कोढ़ के साथ उसका कोई भी संबंध नहीं है। यह उपर्युक्त विवेचना के आधार पर भलीभांति परीक्षा करने पर सहज में समझ में आ सकता है । गजकर्ण के चकत्तों के बारे में भी देहाती लोग बहुत बार गड़बड़घोटाला कर देते हैं। गर्मी के चकत्ते या घाव भी बहुत बार कोढ़ जैसे दिखाई देते हैं। पर उनमें कोढ़ के मुख्य लक्षण नहीं पाये जाते। कई बार जख्म या चोट के कारण किसी हिस्से का स्पर्शज्ञान जाता रहता है पर उसमें कोढ़ के दूसरे लक्षण नहीं होते हैं। केवल स्पर्शज्ञानशून्य त्वचा के कारण उसे कोढ़ कहना उचित नहीं है। दूसरे कारणों से लकवा होकर हाथ-पैर अथवा चेहरे के हिस्से कोढ़ जैसे दिखाई दे सकते हैं पर रोग का इतिहास सुनने पर या भलीभांति परीक्षा करने पर कोढ़ के दूसरे लक्षण नहीं मिलेंगे। कुछ स्त्रियों के हाथ रसोई बनाते हुए जल जाने से कोढ़ियों की पंजाकृति सरीखे दीख पड़ते हैं, केवल इसी वजह से उसे कोढ़ी कहना गलत बात है। बहुत बार कोढ़ के चकत्तों को छिपाने के लिए तेजाब अथवा दूसरे मांसदाहक (कास्टिक) पदार्थ लगा देने से शक्ल बदली हुई दिखाई देती है। पर ऐसों में मज्जातंतु के लक्षण ज्यों-के-त्यों मिलेंगे। नपुंसकत्व प्राप्त मनुष्य का चेहरा कुछ कोढ़ी-सा दिखाई देता है। पर कोढ़ के मुख्य लक्षण उसमें नहीं होते। बहुत बार दो अथवा अधिक रोग एकत्र हो सकते हैं । उदाहरणार्थ, एक चकत्ता गजकर्ण का होता है और बाकी २-३ कुष्ठ के होते ह। इसलिए सारे शरीर की संपूर्ण परीक्षा करने में कभी आनाकानी नहीं करनी चाहिए। रोगी का शरीर जहांतक संभव हो नंगा करने में संकोच नहीं करना चाहिए। इसके बिना उचित परीक्षा नहीं हो सकती। गुप्त

भागों की जानकारी पूछकर प्राप्त कर लेनी चाहिए। बंगाल, आसाम की ओर पाया जानेवाला 'डर्मल लिश्मनियासिस्' नामक रोग हूबहू कोढ़ सरीखा दिखाई देता है। इसका सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा से फौरन निर्णय हो जायगा। सुरमा (सोरियासिस) भी एक ऐसा ही रोग है। इधर वह बहुत कम मिलता है। उसके चकत्तों पर रुपहली-सी सूक्ष्म पपड़ी होती है। ऐसे ही अनेक रोगों का विचार भेदकारी चिकित्सा की दृष्टि से करना जरूरी है। पर वह साधारण पाठकों की मर्यादा के बाहर है। साधारणतः दाग—चकत्ते, संवेदन में खराबी, कुष्ठग्रंथि और व्यंग्यता के बारे में समानता दिखाई देती है। मुख्य तीन लक्षणों की खोज करने से भेद समझ में आ जायगा, और रोग-निर्णय सुलभ हो जायगा।

सोलहवां प्रकरण

रोगियों का वर्गीकरण

सौम्य और कालकुष्ठ के नाते रोगियों के भी दो प्रकार होते हैं। जिस रोग में सब रुग्णक केवल मज्जातांत्वीय कुष्ठ के होते हैं, उसे मज्जातांत्वीय कहते हैं। एकाध रुग्णक भी कालकुष्ठीय स्वरूप के होने पर ऐसा रोगी 'कालकुष्ठीय' कहलाता है। ऐसे रोगी में फिर मज्जा-तांत्वीय प्रकार के दूसरे कितने ही रुग्णक क्यों न हों इसकी परवाह नहीं की जाती।

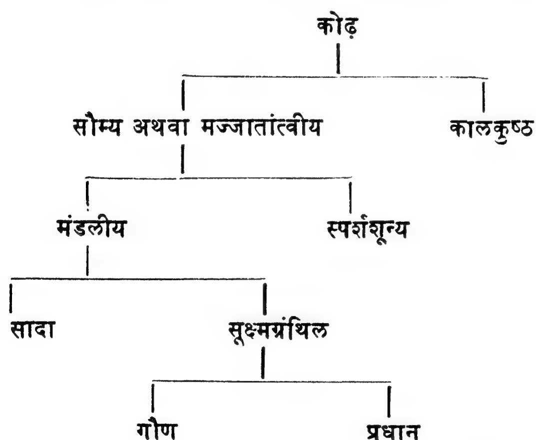
वर्गीकरण करने में 'म' (मज्जातांत्वीय) और 'क' (कालकुष्ठीय) इन संकेताक्षरों (सिंबल) का उपयोग किया जाता है। उसीके साथ रोग की बढ़ती के प्रमाण की कल्पना देनी आवश्यक होती है। इसके लिए १, २, ३ इन अंकों का उपयोग करते हैं। अंक १ एक छोटे-से स्थान-

बद्ध रुग्णक को बतलाता है, अंक ३ सर्वत्र फैले हुए प्रगत रुग्णक बतलाता है और अंक २ इन दोनों के बीच की हालत जाहिर करता है। इस प्रकार के वर्गीकरण का बिलकुल सीधा-सादा प्रकार है $म_१$, $म_२$, $म_३$ और $क_१$, $क_२$, $क_३$ ।

रोग के स्वरूप की ज्यादा सूक्ष्म जानकारी के लिए इस सादे वर्गीकरण का विस्तार करना पड़ता है। इसकी दो पद्धतियां हैं। जिस रोगी में दोनों प्रकार के रुग्णक जिस प्रमाण में मिलते हैं उससे प्रकट करनेवाले अंकों के साथ इन दोनों संकेताक्षरों का उपयोग एकत्र करने की एक पद्धति है । उदाहरणार्थ, $क_२$ $म_२$ इससे मालूम हुआ कि रोगी में कालकुष्ठीय रुग्णक मध्यम प्रमाण में हैं और मज्जातंतु के विकृत होने से पैदा हुई स्पर्शशून्यता मध्यम प्रमाण में। उससे कुछ आरंभिक व्यंगता का बोध भी हो सकेगा।

अधिक सूक्ष्म रीति से वर्गीकरण करने की दूसरी पद्धति है मुख्य प्रकार के सामने उसके उपप्रकार का पहला अक्षर लिखना। 'मंडलीय' और 'स्पर्शशून्य' इसके अथवा 'सादे' और 'सूक्ष्म ग्रंथिल' मंडलीय उपप्रकार का वर्णन पहले किया जा चुका है। इसे दर्शाने के लिए $म_{मं}$ $म_{स्प}$ व $म_{सू}$ चिन्हों का उपयोग करते हैं। उसके आगे प्रमाण दरसाने को १, २, ३ अंक ऊपर बतलाये तरीके से रखते हैं। उदाहरणार्थ $म_{मं१}$ इससे मज्जातांत्वीय प्रकार के दो-एक छोटे-से दागों के होने का पता चलता है। $म_{स्प३}$ इससे रोगी के मज्जातंतु का मुख्य स्तंभ बड़े प्रमाण में विकृत होगया है, दाग दिखाई न देकर त्वचा के बहुतेरे भाग पर स्पर्श-शून्यता है, वेधक व्रण पड़ने सरीखी पोषण विषयक खराबी भी होगई है, इत्यादि बातें दिखाई जाती हैं।

वर्गीकरण के संबंध में एक बात विशेष साफ करने की है। जिस रोगी में मज्जातांत्वीय और कालकुष्ठीय दोनों रुग्णक मिलें उसे कालकुष्ठीय वर्ग में ही डाला जायगा, चाहे कालकुष्ठीय रुग्णक एकाध ही हों और मज्जातांत्वीय अनेक। साध्यासाध्य-विचार, उपचार और रोगप्रतिबंधक इलाज की दृष्टि से कालकुष्ठीय रुग्णक का पाया जाना अधिक ध्यान खींचनेवाली बात है। वर्गीकरण करते हुए उसे प्रमुखता मिलनी चाहिए। उदाहरण के लिए क$_२$ म$_३$ लिखना चाहिए, म$_३$ क$_२$ लिखना ठीक नहीं है। संक्षेप में कोढ़ का नीचे लिखे अनुसार वर्गीकरण होगा :—



कोढ़ के हमेशा मिलनेवाले उदाहरणों के वर्गीकरण में कोई कठिनाई नहीं होती। बहुत बार भिन्न तरह के उदाहरण मिलते हैं, तब उनका वर्गीकरण आसान नहीं रहता। कुछ सौम्यकुष्ठ के और कुछ कालकुष्ठ के अधूरे लक्षण किसी किसी रोगी में एकत्र मिलते हैं। उसमें संवेदना के बदले हुए स्थानबद्ध दाग और सख्त मज्जातंतु मिलेंगे, पर उसीके साथ

अस्पष्ट उभार होगा और सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा में थोड़े कुष्ठजंतु दिखाई देंगे। ऐसे उदाहरण अकसर पाये जाते हैं। ऐसे रोगियों में कुछ ज्यादा दिनों तक मज्जातांत्वीय प्रकार में रहने के बाद जांच के समय कालकुष्ठ में जाने की तैयारी में होते हैं। कुछ सिर्फ मज्जातांत्वीय प्रकार के होते हैं। ऐसे मौक़ों पर एक ही बार की परीक्षा से उनका यथार्थ वर्गीकरण करना असम्भव होगा। ऐसे में नियमित समय पर बारंबार परीक्षा और दीर्घ अवलोकन करने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण प्रकट-रोग लक्षण की दृष्टि से किया गया है। पर कानूनी या समाज-नियम की दृष्टि से रोगी सांसर्गिक है वा नहीं इसके लिए दूसरी तरह के वर्गीकरण की जरूरत होती है। सूक्ष्मदर्शक परीक्षा से इसका निर्णय होता है। रोगी की त्वचा अथवा श्लेष्मल त्वचा की परीक्षा में कुष्ठजंतु पाये जाने पर वह रोगी सांसर्गिक समझा जाता है, न पाये जाने पर उसे 'असांसर्गिक' मानते हैं। कालकुष्ठ के सभी रोगी सांसर्गिक होते हैं। मज्जातांत्वीय (सौम्य) कुष्ठ के बहु-संख्यक रोगी असांसर्गिक होते हैं। सौम्यकुष्ठ के थोड़े अपवादात्मक उदाहरणों में चकत्तों में वा नाक की श्लेष्मल त्वचा में कुष्ठजंतु कभी-कभी मिलते हैं। सूक्ष्मदर्शक के एक क्षेत्र में पाये जाने वाले कुष्ठजंतुओं की संख्या के हिसाब से संकेताक्षरों के आगे—, +, ++, +++ चिन्हों द्वारा सूक्ष्मदर्शक-परीक्षा का निर्णय बतलाया जाता है। हाथ-पैर के पोरुए टेढ़े होगये हैं, व्रण हैं और कुछ जंतु पाये जाते हैं, यह म$_3$ + से मालूम होगा।

उपर्युक्त वर्गीकरण-पद्धति साधारण उपयोग के लायक है। रोग का प्रकार, लक्षणों का स्वरूप और तीव्रता दिखाने को वह काफी है। खास कुष्ठवेत्ताओं के उपयोग के लिए अधिक सूक्ष्म और गुत्थियोंवाली

निराली पद्धति का रवाज है । रोगी की रोग-स्थिति जाहिर करने के लिए शरीराकृति के चार्ट रखे जाते हैं, उसमें संपूर्ण और व्यवस्थित वर्णन रहता है । हर छठवें महीने नया चार्ट तैयार कर लेने से लक्षणों में होनेवाले परिवर्तन और चढ़ाव-उतार का ठीक अन्दाजा हो जाता है । उसकी तैयारी दवाखाने के क्षेत्र की बात है । तथापि तैयार किये हुए चार्ट से रोग-स्थिति की कल्पना थोड़े-से अभ्यास से साधारण पाठक को भी हो सकती है ।

पेशीजाल संबंधी कुष्ठजंतु पर होनेवाली प्रतिक्रिया विभिन्न रोगियों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है । इस प्रतिक्रिया का भेद वर्गीकरण करते हुए ध्यान में रखना चाहिए । वास्तव में इस भेद पर ही वर्गीकरण निर्भर है । संसर्ग का प्रसार, पेशी में संसर्ग भिनने का प्रमाण, त्वचा और मज्जातंतु की विकृति का स्वरूप और व्याप्ति यह सब प्रतिकार-शक्ति पर अवलम्बित रहता है । वर्गीकरण-पद्धति में नया परिवर्तन करते हुए रोगी की प्रतिकार-शक्ति का अंदाजा लगाने का प्रयत्न करना चाहिए । तब वह अधिक सयुक्तिक होगी ।

सतरहवां प्रकरण

कुष्ठजंतु का प्रतिकार

रुग्णक की जांच होजाने, रोग-निर्णय होजाने और वर्ग तय हो-जाने पर औषधोपचार का विचार करने के पहले इसका अन्दाज कर लेना चाहिए कि रोगी की प्रतिकार-शक्ति किस दर्जे की है । यदि वह क्षीण हो तो उसके कारण का भी विचार होना चाहिए । उसकी

ठीक-ठीक कल्पना हुए बिना औषधोपचार समाधानकारक नहीं हो-सकता । क्योंकि औषधोपचार का मुख्य उद्देश्य है रोगी का साधारण आरोग्य सुधारना और उसके द्वारा रोगप्रतिकार-क्षमता को बढ़ाना। अगर रोगी का साधारण आरोग्य खराब और रोग-प्रतिकार-शक्ति निर्बल है तो कोढ़ की सूइयां देना वगैरह खास उपचार करते रहने से हित की अपेक्षा अहित ही होने की संभावना अधिक रहती है।

प्रतिकार-क्षमता का नियमन करनेवाले मुख्य कारण

उत्तम अथवा क्षीण प्रतिकार का रुग्णकों पर कैसा नतीजा होता है, इसका विवेचन पहले हो चुका है। क्षीण प्रतिकार के मुख्यतः तीन कारण हैं—(१)–कोमल वयस, (२)–अशक्तता और (३)–शरीर में कुष्ठजंतुओं का बेहद बढ़ना। इसके विपरीत कुष्ठजंतुओं का थोड़ा-सा संसर्ग होने पर उसके प्रतिकार करने की शरीर की शक्ति बढ़ जाती है, यह बात स्मरण रखने योग्य है।

छोटे बच्चों को इस रोग के संसर्ग का डर अधिक-से अधिक है। यह बात पहले से मालूम हो चुकी है। कुष्ठी के सहवास में रहनेवाले बच्चों में सैंकड़े ४०-५० को रोग लगा पाया जाता है। वही प्रौढ़ावस्था में सैंकड़े ४-५ को होता है। लेप्रालिन्[१] परीक्षा के आधार से भी यही बात प्रकट होती है। बालक की एक साल की अवस्था में सबसे ज्यादा डर रहता है।

---

१. लेप्रालिन परीक्षा—मरे हुए कुष्ठजंतुओं को बहुत महीन पीस-कर उनकी बुकनी कर ली जाती है। उसे नमक के घोल (सोल्यूशन) में मिलाते हैं। उसमें थोड़ा कारबोनिक एसिड डालते हैं। यह तैयार किया हुआ द्रव्य सूई से त्वचा में देते हैं। त्वचा के नीचे नहीं जाने देते। सूई देने के लिए केहुनी का ऊपरी हिस्सा पसन्द करते हैं। जिनमें अच्छी प्रतिकार शक्ति होती है उनके इस सूई वाली जगह पर एक गांठ निकल

अशक्तता दूसरा कारण है। सहचारी रोग, अयोग्य और अपूर्ण आहार अथवा शरीर को कमजोर करनेवाले अन्य कारणों से वह होती है। प्रत्यक्ष कोढ़ के कारण विशेष प्रमाण में अशक्तता पैदा होना जरूरी नहीं है। परन्तु उसके दीर्घक्रम में बहुत उथल-पुथल और खराबी हो जाती है। उसकी वजह से काफी कमजोरी आ सकती है।

देखा जाता है कि थोड़े कुष्ठजंतु शरीर में प्रवेश करने पर उनका प्रतिकार करने की पेशीजाल की शक्ति बढ़ जाती है। निकट के कुष्ठ-जंतुओं को निगलकर खात्मा करने की क्रिया पेशी जोर से करने लगती है। पर एक खास हद से अधिक जंतु जब शरीर में बढ़ जाते हैं तब उसका नतीजा उलटा हो जाता है। पहली दशा में कुष्ठ-जंतुओं का प्रतिकार करने की शक्ति बढ़ने लगती है। दूसरी में उलटे कम हो जाती है। पेशीजाल कुष्ठजंतुओं का प्रतिकार करने के बजाय उन्हें सहन करने लगते हैं। इसीकी वजह से कालकुष्ठ में एक प्रकार का अनर्थपरम्परा का चक्र चालू रहता है। प्रतिकार-शक्ति कम होते ही जंतुओं की संख्या बढ़ने लगती है और जंतु बढ़े कि फिर प्रतिकार-शक्ति कम होती है। उसका नतीजा यह होता है कि जन्तु अधिक जोर से बढ़ने लगते हैं। इसलिए यह विशिष्ट मर्यादा पहुंचने के पहले ही रोग की रोक होना बहुत जरूरी है। शरीर की पेशियों के कुष्ठजंतुओं को सहन करने लगने के पहले ही रोग की गति कमजोर होनी चाहिए।

आती है। अशक्त अथवा क्षीण प्रतिकार वालों में गांठ नहीं उठती। दूसरे सप्ताह से आठवें सप्ताह तक इस गांठ के आकार को कालीपास कंपास (कलिपर्स)'से नापते हैं। उसके तारतम्य के अनुपात से प्रतिकार-शक्ति का अनुमान किया जाता है। इधर लेप्रालिन के बदले इस परीक्षा का नाम लेप्रामिन् कहा जाने लगा है। —लेखक

रोगी की प्रतिकारक्षमता का अंदाज लगाना

यह अंदाज लगाने के लिए रोगी की जांच करते हुए नीचे लिखे हुए विषय ध्यान म रखने चाहिए :—

१—रोग का काल, (यह उसके इतिहास से मालूम हो जाता है)। रोग बढ़ने अथवा कम होने की गति का प्रमाण। (रुग्णक बहुत बार अनेक वर्षों तक सुप्त रहते हैं, अथवा अचानक एकबारगी विलक्षण गति से बढ़ने लगते हैं। रोगी की प्रतिकार-शक्ति में परिवर्तन होने पर ऐसा होना सम्भव है।)

२—रुग्णकों की संख्या, आकार और प्रकार (सौम्यकुष्ठ में उत्तम प्रतिकार होता है; कालकुष्ठ में कमजोर होता है।)

३—रोगी का सामान्य आरोग्य; शरीर कमजोर करने वाले सहचारी रोग; आहार की योग्यता और प्रमाण; सामाजिक परिस्थिति और आदतें; व्यायाम, शरीरिक परिश्रम; विशेषकर रोगी की मानसिक स्थिति (इसमें आकलन शक्ति, निरोग होने का इच्छाबल, बराबर बिना घबराये दीर्घ और त्रासदायक उपचार लिये जाने की मन की तैयारी का भी इस बात में विचार करना चाहिए।)

४—लेप्रालिन परीक्षा प्रतिकार शक्ति की जांच के लिए उपयोगी है। उससे पेशी की प्रतिक्रिया और इस तरह प्रतिकार क्षमता का पता चल जाता है।

५—सेडिमेंटेशन परीक्षा[1] करना भी उपयोगी है। साधारणतः रोगी की

---

१. सेडिमेंटेशन परीक्षा:—एक पिचकारी में ०·३ घ. सें. सोडियम्-सिट्रेट का घोल लेते हैं। उसीमें रोगी की अशुद्ध रक्तवाहिनी में से (नीले में से) १·२ घ. सें रक्त खींच लेते हैं। फिर वह एकत्र मिलाकर एक पिपेट (कांच की सूक्ष्म नली) में भर लेते हैं। इस पिपेट के ऊपर

अशक्तता बढ़ने लगने और प्रतिकारशक्ति कम होने लगने पर सेडिमें-टेशन दर्शक (इन्डेक्स) चढ़ने लगता है।

अनुभव, आग्रह और समय हुए बिना प्रतीकारशक्ति का अन्दाज एकदम नहीं लगाया जा सकता। उपचार शुरू करने के पहले या उप-चार चालू रहते बीच-बीच में इसका विचार करना चाहिए। उपचार कितनी मात्रा में (डोज में) देना, कहांतक बढ़ाना अथवा कब बन्द रखना यह तै करने में भी इसका उपयोग होता है।

से नीचे तक १०० भाग किये हुए होते हैं। ऊपर के भाग में ० निशान बना रहता है। नीचे से ० इस निशान तक रक्त मिश्रित द्रव्य लेने से वह १ घ. सें. भरता है। इस पिपेट को एक रबर के स्टेंड में खड़ा कर देते हैं। १॥ घण्टे में उसे देखने पर रक्त के गोलक अलग होकर नीचे तह में कचड़ा जमा हुआ दिखाई देता है। ऊपर का हिस्सा पानी के समान रंग रहित रहता है। फिर एक घंटे भर उस पिपेट को वैसे ही रख-कर देखने से लाल कचड़े का भाग नीचे खिसका हुआ दिखाई देता है। दोनों बार के नली पर के अंक मिलाकर उसका अनुपात निकालते हैं, इसे सेडिमेंटेशन दर्शक (इन्डेक्स) कहते हैं। इस परीक्षा से प्रतिकार शक्ति घटी है कि सुधरी है, इसका पता चलता है। निरोगी मनुष्य में सेडिमेंटेशन दर्शक (से. द.) १० के नीचे रहता है। रोगियों में वह ८० तक बढ़ा हुआ पाया गया है। रोगी का यह से. द. बीच-बीच में देखते रहने से उसकी प्रतिकारशक्ति के उतार-चढ़ाव का अन्दाज होता रहता है। उसके हिसाब से औषधोपचार में अदल-बदल किया जा सकता है। डाक्टर के लिए यह परीक्षा मार्ग-दर्शक होती है। पर इसी पर सारा दार-मदार नहीं रखना चाहिए।

अठारहवां प्रकरण

कोढ़ का उपचार

उपचार की दिशा

उपचार की दिशा दिखाने के पहले एक बात साफ कर देना आवश्यक है। प्रत्येक रोगी की स्थिति का स्वतंत्र व्यवस्थित परीक्षण करना चाहिए और प्रत्येक की ओर व्यक्तिगत ध्यान देना चाहिए, तभी उपचार में अधिक सफलता की आशा हो सकती है। उत्कृष्ट उपचार में दो बातें शामिल हैं: (१) रोगी का साधारण आरोग्य सुधारना और प्रतिकार-शक्ति का प्रमाण बढ़ाना, (२) साधारण आरोग्य को गिरने न देकर जो खास (स्पेशल) उपचार प्राप्त हो वह जितना बढ़ाया जा सके उतना बढ़ाना। साधारण (जनरल) उपचार में जिन बातों से साधारण आरोग्य सुधरता है उन सब बातों का समावेश होता है। सहचारी रोग का दुरुस्त करना भी उसीमें है। कुष्ठ-प्रतिक्रिया सरीखे प्रसंग में खास उपचार बन्द करके रोगी को आराम देना और प्रतिक्रिया को ठंढा होने देना शामिल है। खास उपचार में रोग-संसर्ग को मिटाने के लिए चालमुग्रा या हिड्नोकार्पस सरीखे खास द्रव्यों का उपयोग किया जाता है।

साधारण उपचार का महत्त्व भलीभांति नहीं समझा जाता है। उस पर जितना ज्यादा जोर दिया जा सके देना चाहिए। हम एक आरंभिक काल के रोगी को जानते हैं, जैसे ही उसे अपने रोग का पता चला उसने अपने खेत में झोंपड़ी डालकर रहना शुरू किया। शुद्ध हवा में रहना, खेत पर मेहनत करना, जो मिले वह ताजा भोजन करना, इसे उसने अपना नियम बना लिया। किसी काम के लिए घर नहीं जाता था। सिर्फ

अन्न घर से मंगाता था। दो बरस बाद उसका रोग बिना किसी दवा के अच्छा हो चला। वह थोड़ी नीम की पत्तियां खाता था। इसके सिवा उसने कोई दवा नहीं ली थी। इस उदाहरण में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। उत्तम प्रतिकार हो और रोग आरंभिक दशा में हो तो सिर्फ साधारण उपचार से भी रोग की रोक-थाम संभव है। दूसरों के लिए भी ऐसा सुधार संभव है। साधारण उपचार को खेत की जुताई कह सकते हैं। खा़स उपचार ऊपर से बरसनेवाली वर्षा है। जुताई न की गई तो बरसात बेकार है, यह सब किसान जानते हैं। इस बात से साधारण उपचार का महत्त्व ध्यान में आजाना चाहिए। नार्वे से १७० आदमियों के अमेरिका की बस्ती में भेजने का जिक्र पहले आचुका है। उस उदाहरण से भी साधारण उपचार का महत्त्व समझ में आ जायगा।

पर साधारण उपचार और खास उपचार में व्यर्थ भेद करने की जरूरत नहीं है। दोनों एक साथ चल सकते हैं। दोनों की उचित मात्रा और सामंजस्य रखने में सफलता की कुंजी है। यह जान रखना चाहिए कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं किसी भी खास उपचार का परिणाम प्रतिकारशक्ति को पहले तात्कालिक कुछ कम करना होता है।

सामान्य उपचार

कोढ़ का उपचार शुरू करने में एक नियम पर अधिक ध्यान देना चाहिए। दूसरा कोई भी रोग साथ हो तो पहले उसे संभालना चाहिए। इसके बिना कोढ़ का इलाज शुरू न करें। उपचार शुरू करने पर बीच में दूसरा रोग पैदा हो जाय तो पहले उसकी ओर ध्यान देना चाहिए। यथासंभव इस नियम का पालन होना चाहिए। इस बात की बहुत बार परवा नहीं की जाती। इसके कारण खास उपचार का वास्तविक परिणाम सामने नहीं आता। जड़ैया, अतिसार, हृद्रक्त, मवाद आना,

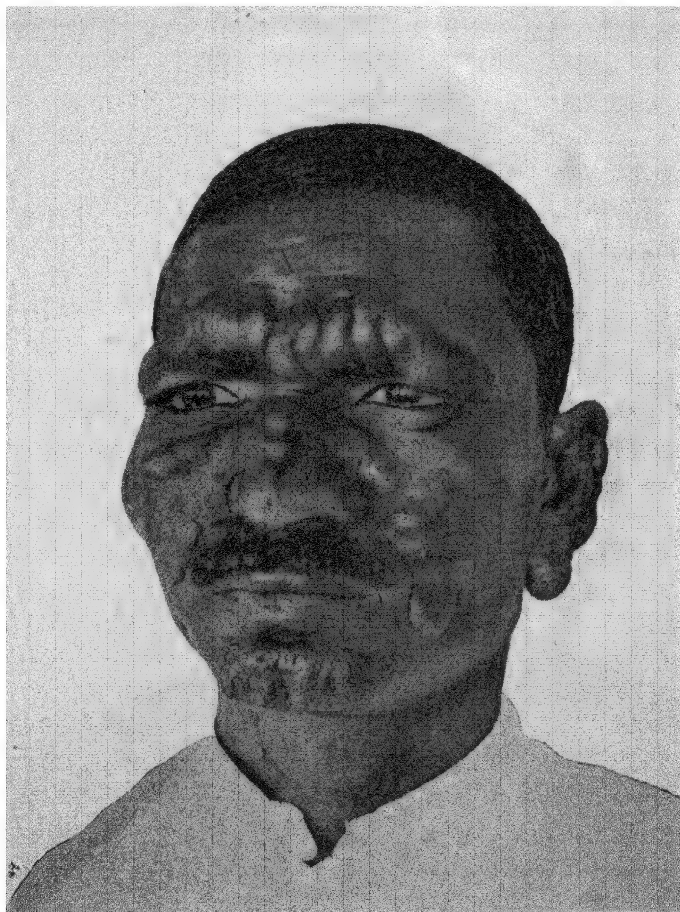
कृमि रोग, सूज़ाक, गर्मी ये रोग हिंदुस्तान में कोढ़ के साथ प्रायः मिलते हैं। अशक्त और बारंबार प्रतिक्रिया होनेवाले रोगियों का खास उपचार शुरू करना अहितकर है। इसके लिए अनेक महीने और बहुत बार कई बरस बाट देखनी पड़ती है। ऐसे रोगी पूरी मेहनत लेते हैं।

क्षय-रोगियों की भांति कोढ़ियों को भी समशीतोष्ण जलवायु अनुकूल पड़ता है, विशेष नम नहीं। पसीना निकलने की क्रिया में गड़बड़ होने पर और त्वचा में दूसरे विकार उत्पन्न होने पर शरीर की उष्णता का नियमन करने का कार्य व्यवस्थितरीत्या नहीं होता। इसलिए बहुत गर्म और बहुत ठंढे जलवायु में शरीर पर विशेष जोर पड़ता है। वह प्रतिकूल होता है। उष्ण प्रदेश में जाड़ा शुरू होते ही रोगियों में सुधार नजर आने लगता है। इसी वजह से ठंढी जगह जाने पर भी यही परिणाम होता है।

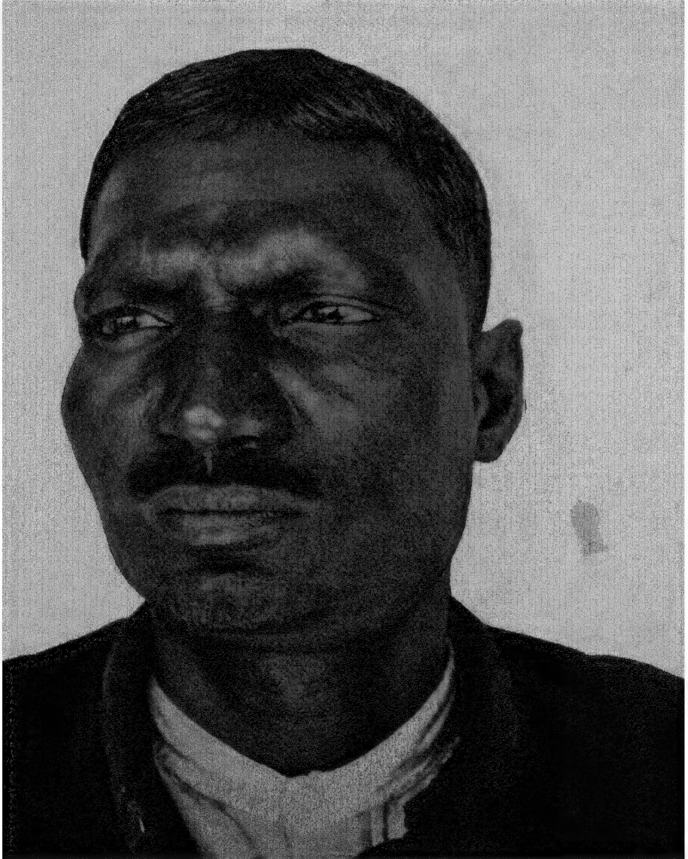
सामान्य उपचार में आहार का विशेष महत्व है। वह रोगी के अनुकूल, युक्त, हलका लेकिन पोषक होना चाहिए। काडलिवर आयल, थाइरायड, कुछ जीवनसत्त्व (विटैमिन्स) अथवा थोड़ा सौम्य हाइड्रोक्लोरिक अम्ल इत्यादि खास कारणों से डाक्टर देते हैं। पर भोजन में बहुत ज्यादा और बारबार फेर-फार न करके नियमितता रखनी चाहिए। बहुत चढ़ाव-उतार और अचानक फेरफार लाभदायक नहीं होता।

रोगी की दिनचर्या का विचार भी महत्त्व की चीज है। बहुत जोर न पड़ने देकर शरीर और मन को बराबर काम में लगाये रखना चाहिए। समय पर योग्य और पूरा विश्राम लेना चाहिए। रोग के लिए फिक्र करने की आदत छोड़ देनी चाहिए।

अनुकूल और खुली हवा में नियमित व्यायाम उत्तम आहार के समान ही जरूरी है। उसमें अति न करे, पर धीरे-धीरे बढ़ावे। स्नायु जितने



चित्र —१२ उपचार सुरू करण्यापूर्वीची अवस्था ।



चित्र —१४ २ वर्ष उपचार घेतल्यानंतरची अवस्था ।

*

मजबूत होंगे उतना ही खास उपचार का अधिक परिणाम होगा, उसी हिसाब से सुधार भी अधिक होगा। रोगी को आहार, व्यायाम और नियमित कार्यक्रम के बारे में सैनिकों के नियम-पालन की भांति नियम पालना चाहिए। विशिष्ट प्रकार के व्यायाम अथवा आसन नियमित रूप से करने से हित होता है।

रोगी को सेडिमेन्टेशन परीक्षा का फल और अपना वजन बीच-बीच में देखते रहना चाहिए। इसके घटने-बढ़ने का मतलब समझना चाहिए। इसके कारण की भी छानबीन करनी चाहिए। तापमान भी नोट कर लेना चाहिए। दूसरे कारण से शक्ति में परिवर्तन हुआ दीख पड़े तो उसका भी विचार करना चाहिए।

रोगी को विषय-संग से दूर रहना चाहिए, उससे शक्ति क्षीण होती है। परंतु उसके छोड़ने से मानसिक स्थिति न बिगड़ने देने का भी ध्यान रखना चाहिए।

अंतिम लेकिन महत्त्व की बात है कि रोगी का मन सदा प्रसन्न और उत्साही रहना चाहिए। बीसवें प्रकरण में इसका सविस्तर विवेचन मिलेगा। सामान्य उपचार व्यवस्थित लिया जारहा है या नहीं, यह बताने के लिए प्रसन्न मन एक कसौटी की भांति है। बुद्धिपूर्वक और स्वेच्छा से रोगी डाक्टर को सहयोग देता है तभी सफलता की आशा रहती है। सामान्य उपचार का सार इसी सहकार्य में है। कोढ़ के संबंध में रोगी को अधिक-से-अधिक जितना ज्ञान मिल सके मिलना हितकर है।

खास उपचार

अनुभव की कसौटी पर कसी हुई कोढ़ियों के लिए इस समय अधिक-से-अधिक खास उपचार में काम में लाई जानेवाली दो दवाइयां

हैं, हिडनोकार्पस[१] अथवा चालमुग्रा तेल । यह सूई से इंजेक्शन के रूप में खाल में देते हैं, स्नायु में भी सूई दी जाने में हर्ज नहीं है । शिरा में (नील अथवा अशुद्ध रक्तवाहिनी में) नहीं दिया जा सकता । इसी के साथ इन दिनों एक खास सूई के द्वारा सिर्फ त्वचा में देते हैं । सूई इतनी छोटी होती है कि त्वचा के नीचे नहीं पहुंचती । इन त्वचा में की छोटी सूइयों का स्पर्शशून्य चकत्तों पर अच्छा और तात्कालिक परिणाम जान पड़ता है । ये दोनों प्रकार की सूइयां (सूचिकाभरण, इंजेक्शन्स) साथ ही ली जाती हैं । रोगी की विशिष्ट परिस्थिति के अनुकल ऐसी अधिक-से-अधिक मात्रा हफ्ते में एक बार लेने का रिवाज अधिक है । पर थोड़ी मात्रा में दो बार लेने की अपेक्षा अच्छा है कि अधिक-से-अधिक मात्रा एक बार में ही ले ली जाय । त्वचा की छोटी सूई स्पर्शशून्य चकत्तों के अलावा दूसरी जगह लेने में भी हर्ज नहीं है । रोगी को थोड़ी-सी तकलीफ़ तो होती है । पर रोगी लेने को उत्सुक हो तो कहीं भी दी जा सकती है । कोढ़ की गांठ पर उसका खासा असर होता है । गांठ दबने लगती है ।

बाह्य उपचार में रोगी के लिए कुष्ठविकृत त्वचा पर चालमुग्रा तेल की मालिश करना और उसपर सूर्य-किरणों का सेवन लाभदायक है । मोटी, ऊबड़-खाबड़ अथवा विकृत दीखनेवाली त्वचा और कुष्ठग्रंथि को साफ कर देने के लिए ट्रायक्लोअर असेटिक् अम्ल लगाते हैं । उसका उचित मात्रा में समझकर उपयोग करना चाहिए । वह जहरीला होता है ।

नाक में अनेक रोगियों को सड़ान की तकलीफ होती है । उन्हें दिन में एक-दो बार 'इ. सी. सी. ओ', का फाहा लगाना चाहिए । बदबू आवे

---

१. इस नाम का एक जंगली पेड़ है । उसके फलों के बीज से यह तेल निकलता है । मद्रास, आसाम, ब्रह्मदेश, श्याम, ब्राजिल वगैरा में पाया जाता है ।

तो 'क्रोमिक अम्ल' का फाहा अच्छा है। घाव हो तो धोकर बोरिक मरहम लगानी चाहिए।

कोढ़ियों के सहवास में रहनेवालों को हाथ वगैरा धोने के लिए 'लायसोल' का घोल उपयोग करना चाहिए। फर्श और लकड़ी का सामान वगैरा अधिक तीक्ष्ण घोल से धोना चाहिए। लायसोल विषैला पदार्थ है, मुंह में जाने से बचाना चाहिए।

उपचार संबंधी उपर्युक्त जानकारी साधारण पाठकों को अथवा रोगियों को होनी जरूरी है। उपचार की पद्धति, द्रव्य, समय, मात्रा का प्रमाण इत्यादि तज्ज्ञ डाक्टरों को मालूम रहता है। यहां उसके ब्यौरे में उतरने की जरूरत नहीं जान पड़ती। मज्जातंतु की खराबी, विशिष्ट अवयवों के रुग्णक और कुष्ठ-प्रतिक्रिया के उपचार का ब्यौरा साधारण पाठकों की मर्यादा के बाहर की चीज है। पीछे वर्णन की हुई प्रत्येक विकृति का उपचार की दृष्टि से विचार होता है, पर यहां उसकी जरूरत नहीं है।

कुष्ठ-प्रतिक्रिया के बारे में सिर्फ एक सूचना दे देना आवश्यक है। उस समय नित्य का खास उपचार, सूइयां बन्द रखनी पड़ती हैं, पूरा आराम लेना पड़ता है। बहुत बार बिना किसी उपचार के केवल आराम लेने से ही वह अपने आप दब जाती है। लक्षणों के बढ़ने से डरकर रोगी अधिकाधिक उपचार लेने का विशेष आग्रह करता है। उसका नतीजा खराब होता है। जानकारों की सलाह मिलनी संभव हो तो लेनी चाहिए। आवश्यकता जान पड़ने पर वह उपचार करेगा। यों, रोगी का कोठा साफ रखना चाहिए, खान-पान हलका लेना चाहिए. पूरा आराम लेना चाहिए। उस वक्त उपचार करने की परेशानी में बिलकुल नहीं पड़ना चाहिए।

कोढ़ रोग में खानेवाली कोई दवा नहीं है। कुछ रोगियों को

किसी पीने की दवा के बिना तसल्ली नहीं होती। उनकी यह खाम-खयाली दूर करनी चाहिए। शक्ति-वृद्धि के लिए पौष्टिक (टानिक्स) लेने में हर्ज नहीं है। सिर्फ जिन पौष्टिकों से शरीर में बहुत जलन बढ़ती हो वे वर्जित हैं। उनसे लाभ के बदले हानि होती है।

शक्ति घटने न देना और शरीर में दाह न बढ़ने देना ही मुख्य पथ्य है। फिर से कोढ़ रोगी का सहवास न होने देना भी उतना ही जरूरी है। अन्यथा उपचार का वास्तविक परिणाम नहीं हो पाता।

योग्य समय पर उपचार शुरू हो जाने से कोढ़ असाध्य नहीं है। उपचार के बारे में एक बड़ी कठिनाई है उसको बहुत दिनों तक चलाने की जरूरत की है। फौरन ही कोई जादू का-सा असर होने की उम्मीद नहीं की जासकती। लगन से किये जाने पर उपचार अवश्य हितकारक साबित होता है। रोगी को यह नहीं भूलना चाहिए कि विज्ञापनी दवाइयों के फेर में पड़कर ऊटपटांग उपचार की अपेक्षा केवल साधारण उपचार चालू रखना अधिक श्रेयस्कर है।

उपचार का काल और परिणाम

कोढ़ का उपचार-काल बहुत लम्बा होता है। आधुनिक सुधारों के कारण उसकी अवधि बहुत कुछ घट गई है। फिर भी जिन रोगियों में रोग पूरी तरह भिन गया है, उन्हें ३ से ५ वर्ष तक भी इलाज जारी रखना पड़ता है। आरंभिक रोग में तो कुछ महीनों के बाद ही अच्छा सुधार संभव है। आमतौर से १०० सूई लेने की जरूरत हो-सकती है। जितनी जल्दी इलाज शुरू होगा उतना ही अधिक फायदा होगा और इलाज में दिन भी कम लगेंगे। यह अच्छे लक्षण हैं। इधर आरंभिक अवस्था में यथासंभव शीघ्र इलाज कराने के लिए रोगी अग्रसर होने लगे हैं। रोग का प्रकार, रोग शुरू होने के बाद बीता हुआ

समय और रोगी की प्रतिकार-शक्ति के अनुसार उपचार कम-ज्यादा दिनों लेना पड़ता है।

विशिष्ट उदाहरणों में उपचार कितने दिनों लेते रहना चाहिए यह जानने के लिए रुग्णकों की तीन दशाएं जाननी चाहिए। (१) जागृत अथवा क्रियाशील रुग्णक, (२) सुप्त अथवा अक्रियाशील रुग्णक और (३) निरुद्ध अथवा ठंढे पड़े रुग्णक। इनके भेद पर ध्यान देने की जरूरत है।

क्रियाशीलता के लक्षण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :—

१—रुग्णकों के आकार और तादाद में घट-बढ़ होना।

२—रुग्णकों पर सुर्खी और मोटाई आना।

३—मज्जातंतु मोटे हों या न हों, उनमें मुलायमियत होना

४—त्वचा या श्लेष्मल त्वचा में कुष्ठजंतु का मिलना।

जबतक ये लक्षण पाये जायं तबतक उसे जागृत रुग्णक समझना चाहिए। जब लगातार ६ महीनों तक इन चारों में से कोई भी लक्षण दिखाई न दे तब उस रुग्णक को 'सुप्त' समझना चाहिए। 'सुप्त' रुग्णक जब उसी हालत में दो साल तक रह जायं तब उन्हें निरुद्ध अथवा 'ठंढे पड़ गये' कहते हैं। कोढ़ में रोगी 'निरुद्ध' (अरेस्टेड) होगया इतना ही अधिक-से-अधिक कहा जायगा ,'रोगमुक्त' (क्योर्ड) शब्द का इस्तेमाल नहीं किया जायगा। कारण, शरीर में रोग-संसर्ग का जरा भी लवलेश नहीं रह गया, यह जानने का कोई साधन प्राप्त नहीं है।

जबतक रोग क्रियाशील है तबतक इलाज जारी रखना चाहिए। सुप्त अवस्था में चले जाने पर भी आगे छः महीने तक जारी रखना चाहिए। उसके बाद इलाज बंद करके रोगी को निरीक्षण में रखा जाना चाहिए। हर तीसरे महीने उसकी परीक्षा होनी चाहिए। कारण,

रोग के वापस लौटने की संभावना रहती है। शंका पैदा होते ही इलाज शुरू कर देना चाहिए। ठंढा पड़ने पर सौम्यकुष्ठ के रोगी को एक वर्ष तक निरीक्षण में रखना चाहिए। कालकुष्ठ के रोगियों को सात वर्ष तक रखते हैं। ठंढा पड़ने के बाद भी साधारण तन्दुरुस्ती गिरने पर प्रायः रोग सिर उठाने लगता है। इससे मालूम होता है कि खास उपचार बंद करने के बाद भी साधारण उपचार चालू रखना कितना जरूरी है।

साधारणतः देखा जाता है कि बाहर रहकर उपचार लेने की अपेक्षा रुग्णालय में रहने पर रोगी को अधिक अथवा शीघ्र फायदा होता है। इसलिए घर रहनेवाले रोगियों को भी उचित है कि जहां तक संभव हो रुग्णालयों की दिनचर्या के हिसाब से आहार-विहार रखने का आग्रह रखें।

उन्नीसवां प्रकरण

साध्यासाध्य-विचार

रोगी कोढ़ की बलि तो शायद ही चढ़ते हैं। उसकी वजह से पैदा होने वाली दूसरी गुत्थियों अथवा दुर्लक्ष के कारण ही वह प्रायः मरता है। कोढ़ वैसा घातक या तड़फड़ जान लेने वाला रोग नहीं है। उसकी सौम्य रोगों में ही गिनती है। इसकी साधारण पाठकों को ही नहीं, वैद्य-डाक्टरों को भी खबर नहीं होती। थोड़ों को ही इसका पता होता है कि किसी खास इलाज के बिना भी शुरू के रोगी अच्छे किये जा सकते हैं। समाज में इसके बारे में जो डर फैला हुआ है वह रोग के कारण

पैदा होनेवाली व्यंग्यता, कुरूपता और समाज म होनेवाले तिरस्कार के कारण है। यद्यपि यह रोग स्पर्शजन्य है तथापि इसकी स्पर्श-जन्यता भी ऐसे ही सौम्यरूप की है। इस वजह से इसका साध्यासाध्य-विचार (प्राग्नासिस) शायद दूसरे रोगों की अपेक्षा अधिक महत्त्व की चीज होगी।

इस साध्यासाध्य-विचार के दो अंग हैं। (१) उनके सम्बन्ध में विचार। जो संसर्ग में आये हुए हैं (संसृष्ट), पर अभी सिर्फ रोग-लक्षण जाहिर नहीं हुए हैं, ऐसे उदाहरणों में रोग प्रकट होने की कितनी संभावना है, इसका मुख्य रूप से विचार करना पड़ता है। (२) उन रोगियों के संबंध में विचार कि जिनमें रोग-लक्षण प्रकट हो गये हैं। रोग दुरुस्त होने की कितनी संभावना है । दुरुस्त होने में कितना समय लगेगा ? रोग फिर से शुरू होने की संभावना रहेगी क्या ? दुरुस्ती हो गई तो भी व्यंग्यता रहेगी या नहीं ? इन प्रश्नों का विचार नम्बर दो में आता है।

इन दोनों अंगों का विचार करने की दिशा एक ही है। उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देते समय छ बातों को लक्ष्य में रखने की जरूरत है—(१) उम्र, (२) रोग का प्रकार, (३) वंश, (४) रोग का समय और उसके चढ़ाव-उतार की गति, (५) रोग-प्रतिकार-शक्ति, (६) साधारण शरीर प्रकृति अथवा आरोग्य।

(१) छोटी उम्र में सुधार होने की संभावना प्रौढ़ों की अपेक्षा कम होती है। छोटे बच्चों को सौम्यकुष्ठ के चकत्ते होने पर उसमें सुधार होना सुलभ नहीं है। उलटे अधिक विकृत स्वरूप धारण करने की संभावना रहती है।

(२) कालकुष्ठ की अपेक्षा सौम्यकुष्ठ में सुधार होने की

संभावना अधिक है । प्रौढ़ों में सौम्यकुष्ठ होने पर सुधार की विशेष आशा रखने में हर्ज नहीं है। कालकुष्ठ के आरंभ के उदाहरण में भी आशा कम ही रखनी चाहिए । सौम्यकुष्ठ में भी सूक्ष्मग्रंथिल प्रकार में सुधार की अधिक संभावना रहती है। मज्जातंतु में विशेष संसर्ग न पहुंचे हुए सादे मंडलों के कालकुष्ठ में बदल जाने की अधिक संभवना रहती है । इसलिए उसका सुधार अपेक्षाकृत दुष्कर होता है।

(३) भिन्न-भिन्न वंशों में (जाति-संघों में) कमोबेश उग्र रूप धारण करने की प्रवृत्ति में भिन्नता पाई जाती है । इस संबंध में अभी तक कोई पक्की बात नहीं मिली है। यूरोपियन अथवा ऐंग्लोइंडियनों की अपेक्षा भारतीयों में रोग साधारणतः सौम्यरूपी पाया जाता है । भारतीयों की रोग-प्रतिकार-शक्ति भी ऊंचे दर्जे की होती है। चीनी और जापानियों में भी वह हिंदुस्तानवालों की अपेक्षा साधारणतः ज्यादा जोर पकड़ता है। हिंदुस्तानियों की अपेक्षा बर्मियों में वह अधिक उग्ररूप धारण करता पाया जाता है ।

(४) थोड़े दिनों के रुग्णक शीघ्र सुधर जाते हैं। अधिक दिन हो जाने पर ज्यादा वक्त लगता है। स्थिर रुग्णक में आशा की अधिक गुंजाइश है। जिसमें चढ़ाव-उतार और वह भी अचानक या तीव्रगति से होता है उनमें उस हिसाब से सुधार देरतलब होता है। ऐसे उदाहरणों में सुधार हो जाने पर भी फिर रोग होने का डर अधिक रहता है।

(५) रोग-प्रतिकार-शक्ति के संबंध में १७ वें प्रकरण में विवेचन होचुका है। इस विषय का निर्णय करने में लेप्रालिन परीक्षा यथेष्ट उपयोगी है ।

(६) दुर्बल काठी वाले रोगियों से मजबूत दोहरे बदन वालों के सुधार की संभावना अधिक है। गांव की सादी रहन-सहन और खुली

हवा में परिश्रम के कारण निकृष्ट आहार होने पर भी उनकी प्रतिकार-शक्ति अच्छी रहती है। मजबूत स्नायुवाला रोगी औषधि की अधिक मात्रा आसानी से पचा सकता है।

रोगी की दृष्टि से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि हाथ पैरों पर या चेहरे पर व्यंग्यता आवेगी या नहीं। बिलकुल आरंभिक अवस्था में उपचार शुरू हो जाने और फिर व्यवस्थित रूप से जारी रहने से व्यंग्यता आने की संभावना कम रहती है। इस संबंध में विशिष्ट प्रकार के व्यायाम का विशेष महत्त्व है। जिनके स्नायु अच्छे बने हुए हैं और जो नित्य व्यायाम करते रहते हैं ऐसों को हाथ-पैरों की पंगुता की विकृति शायद ही होती है। बहुत बढ़ी हुई हालत के उदाहरणों में कुछ स्पर्शशून्यता और सूक्ष्म स्नायु में होनेवाली पोषण संबंधी विकृति सहसा दूर नहीं होती, वह स्थायी होती है। पर उसे रोग के जागृत लक्षणों में गिनने की जरूरत नहीं है। उसे पूर्वरोग का अवशेष समझना चाहिए।

बीसवां प्रकरण

कोढ़ी की मनःस्थिति

'कोढ़ी' शब्द एक तरह की गाली ही है। बहुतेरे देशों में दुर्भाग्य से जो इस रोग के पंजे में फंस जाते हैं उन्हें लोग गालियां देते हैं और उनसे नफरत करते हैं। लोगों का खयाल है कि कोढ़ी मनुष्य दुष्ट और पापी न होता तो भगवान ने उसे इतनी बड़ी सजा क्यों दी होती। समाज कोढ़ियों को धिक्कार-दृष्टि से निहारता है। कोढ़ी के मन पर इसकी प्रतिक्रिया (असर) हुए बिना नहीं रहती। यह प्रतिक्रिया ही कोढ़ी की नाजुक और कमजोर मनःस्थिति का कारण होती है।

किसी मौके पर रोगी से थोड़ी सहानुभूति दरसाने के सिवा अज्ञान या आलस्य के कारण उसे सब जगह हिलने-मिलने देने के अतिरिक्त और साधारणतः उसे लोग परे-परे ही रखते हैं, पास नहीं फटकने देते। समाज में उसके बारे में इस तरह की मनोभावना पैदा होने के कारणों पर विचार करना उपयुक्त जान पड़ता है। कोढ़ रोग की अति सांसर्गिकता के (बहुत छुतहेपन के) कारण ऐसी भावना पैदा होती हो सो बात नहीं है। इंग्लैंड में कोढ़ लक्ष्य देने योग्य (नोटिफाएबल) रोग नहीं माना जाता, बल्कि क्षय के संसर्ग फैलानेवाले रोगियों पर विशेषतया ध्यान रखा जाता है। कोढ़ की अपेक्षा क्षय निस्संदेह बहुत ही अधिक सांसर्गिक रोग है। फिर भी समाज को क्षय से कोढ़ जितना डर नहीं लगता।

फिर इस डर लगने का कारण क्या है? कारण है, कोढ़ से शक्ल बिगड़ जाना, मनुष्य के व्यक्तित्व को व्यक्त करनेवाले अवयव हाथ और चेहरे में खराबी आ जाना जिनकी बीमारी भयंकरता को पहुंची हुई होती है उनमें कुछ की ओर तो ताका तक नहीं जाता। बीमार होने पर भी वह कभी खाट नहीं पकड़ता। गांवभर में भटकता रहता है। यह रोग तड़फड़ में ले लेने वाला, घातक नहीं होता। पता नहीं इसे गुण समझा जाय या दोष। इसकी वजह से रोग की मीयाद लंबी,—बहुत लंबी होती है। रोगी जीने से ऊब जाता है, पर रोग की उससे उल्टी दोस्ती बढ़ती दिखाई देती है। उसपर कोढ़ का आक्रमण हुआ है या सिर्फ बाधा, यह समझ में न आने पर भी वह कोढ़ी के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। अंधे, बहरे, गूंगे या पागलों का जैसे एक वर्ग बन जाता है वैसे ही इनका भी एक स्वतंत्र वर्ग हो जाता है। अंतर इतना ही होता है कि बहरे-गूंगों की अपेक्षा इनसे ही नहीं इनके नाम से भी लोगों को डर लगता है। कोढ़ियों में ऐसी विकृत अवस्था में थोड़े ही पहुंचते हैं, पर

साधारण समाज में प्रमाण या प्रकार का तारतम्य नहीं है। उसे कोढ़ी-मात्र से नफरत होती है। यह एक बार की घर की हुई भावना ज्यों-की-त्यों जारी रहती है।

समाज की ऐसी वृत्ति का रोगी की मनःस्थिति पर स्थायी परिणाम होता है। पहले तो वह रोग को छिपाता है। जरा भी निशान किसी को दिखाई न पड़ जाये, इस डर से बेचारे का मन संशकित रहता है। इसके कारण निरंतर का मानसिक आरोग्य और प्रसन्नता जाती रहती है। आगे चलकर जैसे-जैसे रोग जाहिर होने लगता है और समाज में उसे तिरस्कार और बहिष्कार सहना पड़ता है, वैसे-वैसे उसके मन में हीनता की भावना बढ़ने लगती है। इसी समय कहीं अगर उसका काम-धंधा छूट गया और उसे दूसरे की दया या भीख पर निर्वाह करना पड़ा तो उसके स्वाभिमान की भावना को भारी चोट पहुंचती है। पूरा स्वाभिमानशून्य न होने पर भी हताश तो हो ही जाता है। रोगी जितना सुशिक्षित और कुलीन होता है उसे उतनी ही अधिक मानसिक व्यथा होती है।

यह सिद्धांत है कि मानसिक स्थिति कमजोर होते जाने देने से शारीरिक स्थिति भी कमजोर होती जाती है। उसकी वजह से रोगी की रोग-प्रतिकार-शक्ति क्षीण हो जाती है। वह जैसे-जैसे कम होती जाती है वैसे-वैसे उसका रोग बढ़ता है; और रोग छिपाने का उपाय नहीं रह जाता। वह अगर जल्दी ही जाहिर होगया तो बहिष्कार अधिक प्रमाण में प्रकट होने लगता है। इस प्रकार अनर्थ परंपरा का चक्र चालू होजाता है। मनुष्य जहां हताश हुआ, भविष्य की आशा न रही, जग से और व्यवहार से प्रत्यक्ष वंचित हुआ वा होने का डर ही मन में पैंठा कि मन और साथ ही शरीर भी छीजना शुरू हो जाता

है। कुछ दिनों वह बेकार रहता है और फिर काम करने में असमर्थ भी हो जाता है। स्वतः हताश, समाज के लिए निरुपयोगी जीवन खुद के और समाज के दोनों के लिए भारभूत हो जाता है। जीता है पर आशा और स्वाभिमान मर जाता है। यह मरण से भी बदतर मरण है।

रोगी की मनःस्थिति के ये विचार अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं हैं। कुष्ठ-निवास के रोगियों की, मानसिक रोगदृष्टि से जांच करने पर यह भली-भांति प्रकट हो जाता है। ऐसे रोगियों में सैकड़े २० से २५ रोगी किसी-न-किसी मानसिक बिगाड़ से पीड़ित पाये जाते हैं।

इसके सिवा कोढ़ में एक और खास बात है। अपेंडिसाइटिस सरीखे रोग का सुधरना शस्त्रक्रिया करनेवाले डाक्टर की होशियारी पर निर्भर करता है; विषमज्वर में शुश्रूषा करनेवाले पर; और कोढ़ स्वतः रोगी पर निर्भर करता है। डाक्टर और दूसरे हितचिंतक कितनी ही मदद क्यों न करें, रोगी की दिनचर्या और प्रयत्न ही उसे रोगमुक्त कर सकते हैं। कोढ़ के संसर्ग से पेशियों की प्रतिकार-शक्ति जब घटती है तब घटती है, पर रोगी का मनोबल और प्रयत्न करने की प्रेरणा तो पहले ही घट जाती है। इसलिए प्रयतन करके वह सुधरता नहीं, यही नहीं बल्कि वह प्रयत्न के लिए तैयार भी नहीं होता। जैसे नदी में पड़ा मनुष्य डर जाता है तो बजाय इसके कि किनारा पकड़े अधिक गोते खाने लगता है, वैसे ही भयभीत और हताश हुआ रोगी गड़बड़ाने लगता है। समाज के तिरस्कारपूर्ण व्यवहार से वह अधिक हतबुद्धि होजाता है। प्रत्यक्ष रोग से जो शारीरिक वेदना होती है उसकी अपेक्षा समाज के इस तिरस्कारयुक्त व्यवहार से उसका दुःख दुस्सह हो जाता है। शरीर से बलवान दिखाई देने पर भी मन से वह दुर्बल हो जाता है।

इसलिए ऐसे रोगियों को 'अभागा' अथवा 'करुणा-पात्र' कहने के

बजाय उनसे सहानुभूति और सहृदयता का व्यवहार होना चाहिए। मनुष्यता और भूतदया के नाते ही नहीं बल्कि रोगी की प्रतिकार-क्षमता को प्रोत्साहन देने के विचार से भी ऐसा व्यवहार करना दूसरों के लिए फर्ज हो जाता है। ऐसे रोगियों की स्थिति सुधारने के लिए क्या समाज उनसे विवेकयुक्त प्रेमपूर्ण बर्ताव नहीं कर सकता ?

इक्कीसवां प्रकरण

कोढ़ का प्रतिबंध

प्रतिबंध के मूलतत्त्व

कोढ़ सांसर्गिक (छूत का) रोग है। सांसर्गिक रोगी के स्पर्श से वह निरोगी व्यक्ति को लग जाता है। बच्चों को इस प्रकार से रोग-संसर्ग होने का बड़ा डर रहता है।

दूसरे सांसर्गिक रोगों में जिन तत्त्वों के आधार पर प्रतिबंधात्मक उपाय किये जाते हैं उन्हींका अवलंबन कोढ़ में भी किया जाता है। नीचे लिखे उपाय अमल में लाये जाते हैं—

१—सांसर्गिक रोगियों से दूसरों का सहवास बचाने के लिए उन्हें अलग रखना।

२—रोगियों को असांसर्गिक बनाने के लिए उनका इलाज करना।

३—समाज के सब व्यक्तियों को अथवा सहवास में जानेवाले (संसृष्ट) व्यक्तियों को कृत्रिम उपायों से रोग-निर्भय (इम्युनाइज़)करना।

४—ससर्ग लगने न देने के लिए सामाजिक और आरोग्य-विषयक परिस्थिति में सुधार करना।

५—लोकमत तैयार करने और प्रतिबंधात्मक उपायों में लोगों के स्वेच्छा से हाथ बंटाने के लिए प्रचार द्वारा समाज में रोग के संबंध में जानकारी फैलाना।

अन्य रोगों में उपयोग में आनेवाले ये सब उपाय दुर्भाग्यवश कोढ़ के संबंध में अमल में नहीं लाये जाते। अभीतक कोई ऐसा परिणाम-कारी इलाज हाथ नहीं लगा है कि जिससे सांसर्गिक रोगी बहुत शीघ्र असांसर्गिक हो जाय। इस वजह से कोढ़ के प्रतिबंध में उपचार का प्रत्यक्ष उपयोग नहीं है। उसी प्रकार टीका (इनाक्युलेशन) इत्यादि के द्वारा कोढ़ से दूसरों को रोग-निर्भय भी नहीं किया जा सकता है।

तब अलगाव (सेग्रेगेशन), आरोग्य-विषयक-सुधार और लोक-शिक्षण द्वारा प्रचार यही तीन उपाय बच रहते हैं। प्रत्यक्ष प्रतिबंध के लिए उपचार का उपयोग यत्किंचित ही होने पर भी उपर्युक्त तीनों उपायों को लोकप्रिय बनाने में उसकी अप्रत्यक्षरूप से खासी सहायता मिलती है।

सांसर्गिक रोगियों को अलग करने के लिए समाज में के सारे रोगियों की लिस्ट बनानी पड़ती है। विशेषज्ञ से प्रत्येक रोगी की जांच कराने की जरूरत होती है, उनमें से सांसर्गिक और असांसर्गिक को छांटना पड़ता है। समाज से सांसर्गिक रोगी का अलग करना आसान नहीं है। वैसे ही समाज में सांसर्गिक रोगी कितने हैं और कौन-कौन हैं यह तय करना भी सहज नहीं है।

सार्वजनिक आरोग्य के सुधार का सवाल समाज की आर्थिक, सामा-जिक और राजनीतिक परिस्थिति के साथ गुंथा हुआ है। इसके लिए एक तरह से समाज की सर्वांगीण उन्नति होने की जरूरत है।

लोकशिक्षक और आरोग्य-दूतों (हेल्थविज़िटर) की स्वेच्छा से सहायता मिले तो प्रचार का प्रश्न कठिन नहीं है ।

दूसरे देशों में कोढ़ का प्रतिबंध

जहां रोगियों की संख्या एक हद के अन्दर है और आवश्यक आर्थिक सहायता मिलने में अड़चन नहीं है उन देशों में आमतौर से अनिवार्य रूप से उन्हें अलग करने पर ज़ोर दिया जाता है। यह अलगाव साधारणतः कुष्ठनिवास सरीखी संस्थाओं के मार्फत होता है। कुछ देशों में अनुकूल परिस्थिति मिलने पर घर-के-घर में ही अलगाव किया गया है। एशिया और अफ्रीका के कुछ देशों में कुष्ठग्राम बसाने की पूर्वापर प्रथा दिखाई देती है ।

इस अलगाव का नतीजा अलग-अलग हुआ है । जहां लोकमत अच्छा अनुकूल मिला जैसे नार्वे में, वहां अलगाव में अच्छी कामयाबी हुई है। जहां लोकमत का जोर नहीं रहा वहां यथासंभव कायदे को टालने की प्रवृत्ति रही है। सांसर्गिक रोगियों को अलग करना मानवदया का कार्य है यह न समझकर रोगियों के रोग छिपाने में दूसरे लोग उलटे मदद करने लगे। ऐसे देशों में यह प्रयोग निष्फल सिद्ध हुआ। जापान, फिलिपाइन्स सरीखे कुछ देशों में बीच के दर्जे की कामयाबी रही ।

इधर अलगाव पहले से अधिक लोकप्रिय होने लगा है। एक बार अलग किये गये कि फिर समाज में वापस लौटने की उम्मीद गई, यह धारणा बदल रही है। आधुनिक उपचार से बहुतेरे रोगियों को समाज में वापस लौटने की आशा होने लगी है। इन दिनों के कुष्टनिवास पहले जैसे कैदखाने नहीं रह गये हैं। वे यथासंभव रमणीय, हवादार स्थानों में बसाई बस्ती जैसे हैं। दूसरी वजह है, उन देशों में पति-पत्नी

को जबरदस्ती से अलग नहीं करते। जन्मते ही बच्चे को अलग करके उसके संवर्धन का प्रबंध किया जाता है। जापान सरीखे कुछ देशों में संतति न होने देने के लिए पुरुष पर एक प्रकार की शस्त्रक्रिया करते हैं और उसके बाद उन्हें एकत्र रहने देते हैं। पहला उपाय बड़े खर्च और जोखिम का है; दूसरे के सर्वत्र लागू होने में सामाजिक अड़चनें हैं।

दूसरे देशों की आरोग्य विषयक सुधार और शैक्षणिक प्रचार इन दोनों उपायों की पद्धति के संबंध में विचार करने की यहां आवश्यकता नहीं है।

हिंदुस्तान में प्रतिबंध

हिंदुस्तान में इस संबंध में तीन विचारों के लोग मिलते हैं। कुछ पूरे निराशावादी दिखाई देते हैं। उनका कहना है, कोढ़ का प्रश्न बड़ा विकट है। उसको रोकने के साधन अपने यहां बहुत ही अल्प हैं। समाज अत्यंत दरिद्रावस्था में है। सामाजिक और आरोग्य विषयक परिस्थिति बहुत निकृष्ट है। आज की इस परिस्थिति में प्रयत्न करना फजूल है, इसमें कुछ होने-जाने को नहीं है। कुछ बड़े आशावादी हैं। आधुनिक उपचार में कुछ थोड़े से सुधारों की ओर देख कर यह प्रतिपादन करते हैं कि देश में सब जगह उपचार-केंद्र खोल देने चाहिएं, रोग दूर हो जायगा। तीसरे हैं जो दोनों सिरों को छोड़कर मर्यादा समझकर प्रयत्न करनेवाले हैं। यह प्रश्न कितना विशाल और कठिन है, इसका उन्हें पूरा ज्ञान है। वे जानते हैं कि प्रतिबंध में उपचार का उपयोग नहीं के बराबर है। छोटे बच्चों को सांसर्गिक रोगियों से अलग किये बिना इस रोग की रोक-थाम नहीं हो सकती, यह वे अच्छी तरह जानते हैं। पचीस-पचास बरस में भी वे कोई आश्चर्यकारक परिणाम दिखाने की उम्मीद नहीं करते। हां, उनका यह विश्वास है कि

योग्य दिशा में कार्य करते रहने से उसमें समाज का स्थायी कल्याण है, और रोग को वश में लाने में क़दम आगे पड़ेंगे । इसके लिए हिंदुस्तान में जगह-जगह निम्नलिखित उपायों पर अमल करना चाहिए :

(१) **प्रचार**

साधारण जनता में इस विषय का सही-सही ज्ञान फैलाना चाहिए । इसके बिना इस काम में विवेकपूर्ण लोकमत का बल पाने की आशा नहीं है । आज तो इस संबंध में लोकमत उदासीन है । किसी एकाध वर्ग को ही नहीं सारे समाज को मिलकर इस प्रश्न के संबंध में जागृत होना चाहिए । इसके बिना रोग की रोक में कामयाबी नहीं हो सकती ।

(२) **कार्यकर्ताओं की शिक्षा**

इस विषय के जानकार डाक्टर, परिचारक और आरोग्यदूतों की तादाद बढ़ानी चाहिए । इसके लिए उनकी तालीम का प्रबंध करना चाहिए ।

(३) **अलगाव की कोशिश**

कुष्ठनिवास सरीखी संस्थाओं के द्वारा अलगाव आदर्शरूप से हो-सकता है । आज हिंदुस्तान में जो ऐसी ५०—५५ संस्थाएं हैं उनमें १०,०००रोगी अलग करने का सुभीता है । हिंदुस्तान में१५ से २०लाख कोढ़ी होने की कल्पना है । अगर उनमें सैंकड़े २० सांसर्गिक माने जायं तो उनकी संख्या ३ लाख से ऊपर जायगी । इतनों के लिए ऐसी संस्था स्थापित होना असंभव-सा दिखाई देता है । तथापि प्रत्येक रोगग्रस्त भाग में ऐसी एक संस्था तो जरूर होनी चाहिए । उसमें रोगियों की परीक्षा, उपचार, अलगाव और कार्यकर्ताओं के शिक्षण इत्यादि की सुविधा होनी

चाहिए। आज ऐसी संस्थाएं हों चाहे कम पर उनमें अलगाये हुए सब रोगी सांसर्गिक ही नहीं हैं। अपाहिज विद्रूप रोगी, (बर्न्ट आऊट केसेस) सांसर्गिक न होने पर भी उन संस्थाओं में भरती कर लिये गये हैं। भूतदया की दृष्टि से ऐसे अपाहिजों का भी सुभीता करना जरूरी है तथापि ऐसी संस्थाओं में केवल सांसर्गिक रोगियों का रखना आरोग्य-दृष्टि से अधिक अच्छा है। यह अनुभव से देखा गया है कि इस संस्था का विकास शहर के अस्पतालों के ढंग पर करने के बजाय देहात में गांवों के ढंग पर करना अधिक उपयोगी होगा।

ऐसी संस्थाएं ज्यादा नहीं कायम की जा सकतीं और घर में अलग रहने का प्रश्न हिंदुस्तान की आज की परिस्थिति में व्यावहारिक नहीं है। गांवों के लिए तो अलगाव का ही एक मार्ग बच जाता है। शायद कुछ गांवों का एक गुट बनाकर उनकी ओर से कोई कुष्ठग्राम बसाना अधिक सुविधाजनक हो सकता है। पर अपने-अपने यहां की परिस्थिति के अनुसार व्यावहारिक मार्ग वहां के पास-पड़ोस की जनता को ही तय करना होगा। इसका प्रयत्न अवश्य होना चाहिए। यह काम सरकार का है, यह समझकर समाज का निश्चिन्त रहना उचित नहीं है। पर समाज उदासीन है इसलिए कुछ करना संभव नहीं है, यह कह देने भर से सरकार की छुट्टी नहीं हो सकती। ऐसी बस्तियों में केवल सांसर्गिक रोगियों को ही अलग करना चाहिए। गांव में आज जैसा उनका उदर-निर्वाह होता है वहां भी कम-से-कम उतना होना चाहिए। इसका खयाल रखना चाहिए कि उन्हें भीख पर गुजारा न करना पड़े। स्त्रियों और पुरुषों के निवास अलग-अलग होने चाहिएं। निरोगी आदमियों के लिए वहां रहने की मनाई होनी चाहिए। वहां के नियम और स्वच्छता पर उचित देखरेख होनी चाहिए।

(४) उपचार-केंद्र (क्लिनिक ट्रीटमेंट सेंटर)

कोढ़ को रोकने में कुष्ठनिवास अथवा अस्पताल के बाद ही उपचार-केंद्रों का नंबर है। निस्संदेह उनकी बहुत जरूरत है। वे कुष्ठ-निवास की पूर्वतैयारी के रूप में होते हैं और पूरकरूप भी। सब असांसर्गिक रोगियों और थोड़े आरंभिक सांसर्गिक रोगियों के लिए उनका अच्छा उपयोग होता है। उनके द्वारा रोग-निर्णय, उपचार और प्रतिबंध ये तीनों प्रकार के काम हो सकते हैं। हिंदुस्तान में रोगियों में से ७५ प्रतिशत उपचार-केंद्रों में ही जाते हैं। हिंदुस्तान में ऐसे उपचार-केंद्रों की संख्या आज लगभग १००० है। हफ्ते में एक बार सूई लगाना भर ही उनका काम नहीं होना चाहिए। आदर्श केंद्रों में प्रत्येक रोगी के घर की और उसके-सब कुटुंबवालों की हर छठे महीने जांच होनी चाहिए। कोढ़-विषयक ज्ञान समाज में फैलाने की तो वह शाला ही हो। कुष्ठनिवासों में रोगी भेजने का काम वास्तव में उन्हीं के द्वारा होना चाहिए। समाज में से ऐसे रोगियों को जल्दी-से-जल्दी खोज निकालना इन केंद्रों के कामों में एक मुख्य काम है। कुष्ठनिवास और उपचार-केंद्र का चोली-दामन का सा साथ है। हिंदुस्तान में केवल कुष्ठनिवासों द्वारा अथवा केवल उपचार-केंद्रों द्वारा कोढ़ का प्रश्न हल होना संभव नहीं है। दोनों का उचित समन्वय और सहकार होना चाहिए। इन दोनों में किसकी जरूरत ज्यादा है, यह विषय कभी विवादास्पद था पर आज तो दोनों की मर्यादा और महत्त्व सामने आगये हैं। जैसे मनुष्य के दोनों हाथ समान भाव से उपयोगी हैं वैसे ही ये दोनों भी हैं। एक के अभाव में दूसरा पंगु रहेगा। हिंदुस्तान में कुष्ठनिवास और उपचार केंद्र भिन्न-भिन्न प्रबंधों के आधीन हैं, इसकी वजह से परस्पर का संबंध गाढ़ होने में अड़चन पड़ती है। होना तो चाहिए दोनों का

पूर्ण सहकार; तभी समाज के लिए दोनों वास्तविक रूप से उपयोगी होंगे।

यहां कुष्ठनिवास अथवा उपचार-केंद्रों की रचना और कार्य-पद्धति देने की आवश्यकता नहीं है। पाठकों को आसपास में कहीं ऐसी संस्था हो तो जरूर देखने का लाभ लेना चाहिए।

(५) ऐच्छिक बनाम जबरदस्ती

कितनों का सुझाव है कि सौम्यकुष्ठ के रोगियों का जबरदस्ती इलाज और कालकुष्ठ के रोगियों का जबरदस्ती अलगाव करना चाहिए। ऐच्छिक उपचार और अलगाव से जितनी कामयाबी होने की उम्मीद है उतनी जोर-जबरदस्ती से नहीं। जबरदस्ती का उपाय काम में लाने के लिए जिस उच्च कोटि के लोकमत की आवश्यकता है वह परिस्थिति हिंदुस्तान में अभी देर से आनेवाली है। जापान, फिलीपाइन्स सरीखे देशों में जबरदस्ती के सख्त कानून बनाये गये, पर बाद को उन्हें बदलना या ढीला करना पड़ा। उनसे हमें सबक लेना चाहिए। जबरदस्ती के उपाय में रोगी अपने ऊपर जुल्म मानकर असंतुष्ट रहता है। डाक्टर के साथ सहकार नहीं करता। पद-पद पर नियम-भंग की कोशिश करता है। यह सही है कि ऐच्छिक पद्धति में भी सारे रोगी अपनी खुशी से अग्रसर नहीं होते। पर जो आते हैं उनकी उपचार पर अथवा अलगाव पर श्रद्धा होती है। वे खुशी से अपना फायदा समझकर नियम पालते हैं। संस्था में आने देने के लिए उपकार मानते हैं। इसके सिवा स्वेच्छा से नियम-पालन में जो नैतिक आनन्द है वह निराला ही है, जबरदस्ती के उपाय में लुकाव-छिपाव बहुत रहता है। इसलिए सब सांसर्गिक रोगियों को जबर्दस्ती अलगाना मुश्किल है। लोकमत पीछे हुए बिना कितना ही कड़ा कानून बना दिया जाय तो भी उसका

वास्तविक परिणाम नहीं होता। उसका जितने भाग में पालन होता है उससे ज्यादा भाग में वह भंग किया जाता है। देखा गया है कि बड़ी दिक्कतों के बाद लुक-छिप करनेवाले रोगियों को तलाशा भी गया तो उतने ही समय में वह बहुतों को संसर्ग का शिकार बना चुके होते हैं। इसकी वजह से कानून की असली मंशा जहां-की-तहां ही रह जाती है। इस संबंध में आजतक के अनुभव के आधार पर विशेषज्ञों ने यह मत कायम किया है कि लोकमत और शिक्षण द्वारा अलगाव करने पर जोर देना अच्छा है। जबरदस्ती के उपाय बिलकुल छोटे देश में अथवा द्वीप में व्यावहारिक सिद्ध होसकते हैं, किसी विशाल देश में नहीं।

(६) **जांच (सर्वे)**

प्रत्येक रोगग्रस्त हिस्से की व्यवस्थित जांच होनी चाहिए। (१) रोगमान और (२) वहां रोग-प्रसार के विशिष्ट कारणों की निश्चित कल्पना हो जानी चाहिए।

यह जांच तीन प्रकार की होती है। रोगग्रस्त हिस्से में बीच-बीच में कुछ गांव लेकर नमूने के लिए जांच की जाती है (सैंपल सर्वे)। उससे सारे हिस्से की साधारण कल्पना हो जाती है। दूसरी जांच (कंसेन्ट्रेटेड-सर्वे) में प्रत्येक रोगी जांचा जाता है। उसके लिए कार्यकर्ताओं का दल चाहिए और वक्त भी काफी चाहिए। तीसरी तरह की जांच खास मौकों पर मुख्य रूप से संशोधन या अध्ययन के लिए की जाती है। ऐसी जांच में किसी खास भाग के प्रत्येक व्यक्ति की संपूर्ण शास्त्रीय रीति से परीक्षा की जाती है। उन हिस्सों का कई वर्ष बराबर अवलोकन और फिर-फिर जांच चालू रहती है। ऐसी जांच विशेष मौकों पर ही संभव होती है (एपिडिमिआलोजिकल सर्वे)

(७) **प्रचार**

प्रचार जांच के साथ ही सुलभता से हो सकता है। प्रचार को उपयुक्त और आकर्षक बनाने के लिए उन-उन गांवों के प्रत्यक्ष उदाहरणों द्वारा प्रचार करना उत्तम होता है। उसमें तात्विक विवेचन पर जोर देने की जरूरत नहीं है। चित्र अथवा चित्रपटों की मदद मिल जाय तो लेनी चाहिए। जो रोगी अच्छे हो गये हैं वे अच्छे प्रचारक बन सकते हैं। सीधी स्थानीय लोकभाषा में ही प्रचार करना चाहिए।

(८) **प्रतिबंधक कार्य के लिए संगठन।**

उपर्युक्त कार्यों का संघटन प्रांतिक सरकार या स्थानीय डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड और म्यूनिसिपलिटियों की ओर से खास तौर से हो सकता है। इसके सिवा दूसरे देशों का और हिंदुस्तान का भी यह तजरबा है कि सार्वजनिक लोकहितैषी संस्थाएं ऐसे कामों में अनमोल सहायता कर सकती हैं। इतना ही नहीं, उनके द्वारा जो लोकमत का सहारा मिलता है वह मिले बिना ऐसे कामों में तरक्की नहीं होती। सरकारी संस्थाओं के सिवा ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं के कायम होने की जरूरत है। उनमें जो लगन और सेवा की भावना होती है वह सरकारी संस्थाओं में नहीं मिल सकती। हां यह अवश्य होता है कि सरकारी संस्थाओं के पास अधिकार और पैसे का जो जोर रहता है उससे वे रहित होती हैं। थोड़े क्षेत्र में अच्छा काम सार्वजनिक संस्थाओं से ज्यादा सध सकता है। व्यापक क्षेत्र में सरकार का ही हाथ लगाना ठीक है।

बाईसवां प्रकरण

कोढ़ और गांव

जेसे क्षय शहरों—उद्योग-केंद्रों में पाया जानेवाला रोग है, वैसे ही कोढ़ खास कर देहातों में पाया जाता है। जैसे शरीर के सर्वव्यापी अवयव त्वचा और मज्जातंतु में यह फैलता है वैसे ही देशव्यापी गांवों में उसका फैलाव है। संस्कृति की विशिष्ट अवस्था और रहन-सहन के साधारण सुधार के परिणाम पर यह निर्भर करता है, इसलिए प्रत्येक गांव का सुधार हुए बिना इसकी जड़ जाना कठिन है। इससे कोढ़ का प्रश्न गांवों के सामाजिक, आर्थिक और आरोग्य संबंधी प्रश्नों के साथ बेतरह जुड़ा हुआ है।

देश से यदि इसे निकाल भगाना है तो हर गांव को इस समस्या के हल करने का काम गांव में ही शुरू करना चाहिए; तभी इस की रोक-थाम संभव है। कोढ़ का किला कहिए, गढ़ कहिए, गांव हैं। वहीं उसकी जड़ खोदनी चाहिए।

गांवों में कोढ़ के बारे में कितनी ही मूर्खतापूर्ण रूढ़ियां फैली हुई हैं। 'छूत की क्या बात है जी, किस्मत में लिखा था हो गया' यह बराबर सुना जाता है। व्यभिचार से अपना रोग दूसरे के पल्ले बंध जाता है और खुद को मुक्ति मिल जाती है, यह माननेवाले भी पाये जाते हैं। उन्हें इसका भेद नहीं मालूम रहता कि सांसर्गिक रोगियों से अधिक डरना चाहिए या अपंग और शक्ल बिगड़े हुए लोगों से? छोटे बच्चों को रोगियों के पास खेलने को छोड़कर बाहर काम के लिए जाते उन्हें कोई दुविधा नहीं होती। कोढ़ी के वंश में औरों के साथ शादी-विवाह होते रहने के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यह नहीं है कि बहुतों को रोगों के वास्तविक रूप की कल्पना नहीं होती। किसी गरीब आदमी के बारे में सिर्फ कठोरता से ही नहीं क्रूरता से भी काम लिया जाता है। परंतु कोई रोगी धनी हुआ या प्रतिष्ठित तो आवश्यक नियम पालन करने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ती। और खुद का जो नाते-रिश्तेदार हुआ तब तो किसी नियम का पालन करीब-करीब असंभव ही है। सांसर्गिक रोगी के स्वतंत्रता से कुटुंब में या समाज में हिलने-मिलने से अनेकों को उसका संसर्ग-दोष पहुंच सकता है, इसका उन्हें ख़याल नहीं रहता। पत्नी रोगिणी हुई तो आमतौर से उसे छोड़ ही दिया जाता है; और बाल-बच्चे सब उसी के साथ जाते हैं और रोग के शिकार होते हैं। पति रोगी हुआ तो कुटुंब में खुल्लम-खुल्ला सब व्यवहार चलाता है। भला कुटुंब के मुखिया से कहने की हिम्मत किसकी होगी कि भाई तुम अलग जा रहो। गांवों में सारे गांव का एक ही नाई और धोबी होता है। उसके खास धंधे की वजह से गांव में रोग हुआ तो उसे लगने का खटका रहता है और फिर उससे सारे गांव सें फैलने का डर रहता है। कुछ जगह इन्हें खुराक देने का रवाज होता है जिससे रोग फैलने की ज्यादा गुंजाइश रहती है।

संसर्ग के दो हिस्से किये जा सकते हैं: (१) कुटुंब में बढ़नेवाला और (२) गांव में दूसरों में फैलनेवाला। पहले प्रकार का संसर्ग अलग किये बिना टलना कठिन है और वह कुटुंब के व्यक्ति पर निर्भर है। दूसरे प्रकार का संसर्ग न बढ़ने देने का हर जाति और गांव चाहे तो अच्छी तरह प्रयत्न कर सकता है। 'जो गांव कर सकता है वह राव (राजा) नहीं कर सकता' यह कहावत और मामलों में इतनी सही शायद न ठहरे जितनी इस मामले में। रोकथाम के तत्त्वों का विवेचन पिछले प्रकरणों में किया जाचुका है। उसका पूरा-पूरा अमल होना

चाहिए। प्रत्येक गांव में, या गांव बड़ा हो तो प्रत्येक जाति में, प्रतिबंधक मंडल या कम-से-कम एक आरोग्यदूत—चौकीदार का होना जरूरी है। इसका काम होगा कि खास गांव में कोढ़ को बढ़ने न देना, उसे जड़ से नष्ट करना। उसे नीचे लिखी बातें करनी चाहिए :—

१—जितने कोढ़ी हों सबकी खबर रखना। इसमें निकट के उपचार-केंद्र की अथवा दूसरे डाक्टरों की सहायता लेना। गांव के सब कोढ़ियों की व्यवस्थित सूची रखना।

२—उसमें से सौम्यकुष्ठ की लिस्ट अलग करना। उसे किससे कैसे रोग लगा इसका पता लगाने का प्रयत्न करना। उस असांसर्गिक रोगी से और दूसरों को रोग न होने पावे इसकी कोशिश करना। सब सौम्य-कुष्ठ के रोगियों को उपचार के लिए ले जाना। जो इलाज न करावें उन्हें जाति बाहर का दंड दिलवाना।

३—सांसर्गिक रोगियों का खाना अलग रखना। उन्हें अलग रखने का प्रयत्न करना। उनसे दूसरों को रोग न लगने पावे इसकी खूब खबरदारी रखना। छोटे बच्चों का तो पूरा-पूरा बचाव करना। ऐसे रोगियों को भी इलाज के लिए ले जाना। उनके सब कुटंबियों की हर छठे महीने जांच करवाना।

४—गांव के सार्वजनिक आरोग्य को सुधारने और इस रोग के बारे में लोगों को जानकारी कराने का प्रयत्न करना। जो रोगी अच्छे हो गये हैं उन्हें प्रचारक बनाने का अच्छा उपयोग हो सकता है।

५—कोढ़ियों को गांव में नीचे लिखे काम नहीं करने देने चाहिए—

(१) अन्न और वस्त्र बनाने बेचने का काम।

(२) घर का काम-काज, बच्चों का पालन और शिक्षण।

(३) शुश्रूषा और दाई का काम।

(४) नाई धोबी का काम।

(५) कुली का काम।

(६) गली-गली भीख मांगते फिरने का काम।

(७) सभा, तीर्थ या कहीं दावत खाने जाने का काम।

६—कोढ़ियों का और दूसरों का परस्पर ब्याह-शादी रोकना।

७—कोढ़ी को संतान होना इष्ट नहीं है। यदि हो जाय तो बच्चे को निरोगी रिश्तेदारों के यहां पालना चाहिए।

८—रोग को छिपाने की प्रवृत्ति को जहां तक संभव हो दूर करना चाहिए। इसके लिए रोगियों से तिरस्कार और हीनता का व्यवहार नहीं होना चाहिए। समाज में सहानुभूति और सहायता की भावना पैदा करनी चाहिए।

९—जहां संभव हो वहां पुरानी कोढ़ी-गांव बसाने की पद्धति को उत्तेजन देना चाहिए। ४–५ गांव मिलकर एक ऐसी बस्ती बसा सकते हैं।

१०—जो रोगी उपचार ले रहे हैं उन्हें 'सामान्य उपचार' शीर्षक में जैसा बतलाया गया है उसके अनुसार चलाना। इस संबंध के पत्र पत्रिकाओं का लोगों में प्रचार करना।

प्रकरण २३ वां

कोढ़ संबंधी कुछ उल्लेखनीय संस्थाए

दि इंटरनेशनल लेप्रसी कांग्रेस

दुनिया में कोढ़ के संबंध में अधिकार पूर्वक शास्त्रीय निर्णय करने-वाली यह अकेली संस्था है। संसार के भिन्न-भिन्न देशों में साधारणतः हर पांचवें साल सब देशों के प्रतिनिधि-कुष्ठवेत्ता (लेप्रालाजिस्ट) इकट्ठे होते हैं; उस समय तक की शोधों और अनुभवों की चर्चा करते हैं; उत्तमोत्तम निबंध पढ़े जाते हैं और अंत में प्रस्ताव रूप से कार्यकर्ताओं की स्वीकृति के लिए निर्णीत मत प्रकट किया जाता है। १९३१ में मनिला (फिलिपाइंस) में कांग्रेस हुई थी। उसके बाद १९३८ में काहरा (इजिप्ट) में ५ वां अधिवेशन हुआ। उसमें ५० देशों से लगभग ३०० कुष्ठ रोग के जानकार जमा हुए थे। इस कांग्रेस के अब तक ५ अधिवेशन हुए हैं। इसकी ओर से 'दि इंटरनेशनल जर्नल आफ लेप्रसी' नामक त्रैमासिक पत्र निकलता है। इस संस्था के निर्माण में 'अमेरिकन लेप्रसी फाउंडेशन' से विशेष सहायता मिली है।

दि मिशन टु लेपर्स

संसार के अनेक देशों में अनेक वर्षों से निष्ठा और सेवा-भाव से कोढ़ियों के लिए बराबर काम करनेवाली 'दि मिशन टु लेपर्स' नामक संस्था है। १८७४ में डब्लू. सी. बेली ने इसकी स्थापना की थी। बेली उस वक्त अम्बाला (पंजाब) में थे और अपनी फुर्सत का वक्त कोढ़ियों के प्रश्न के विचार में लगाते थे। उनके पत्र से मांकस्टाउन (डब्लिन) की तीन कुमारिकाओं ने उन्हें हर साल ४५० रुपये इकट्ठा करके इस काम में खर्च करने को भेजने का निश्चय किया। उनकी कोशिशों का नतीजा यह हुआ कि पहले साल के अंत में बजाय ४५०)

के ७५००) से ऊपर रकम जमा हुई। दूसरे साल वह १२०००) से भी बढ़ गयी। खुद बेली को इतने रुपयों की जरूरत न थी, इसलिए उन्होंने इस काम के करनेवाले हिन्दुस्तान में जो दूसरे मिशनरी थे उन्हें सहायता देने का निश्चय किया। इस प्रकार कार्य का आरम्भ होकर इस जगद्व्यापी संस्था की नींव पड़ी। आज मिशन की सालाना आमदनी १४ करोड़ से अधिक है। इस संस्था का आरम्भ जैसे हिंदुस्तान में हुआ वैसे इसकी प्रधान शाखा भी हिंदुस्तान में ही है। इसके सिवा चीन, जापान, कोरिया, फारमोसा, श्याम, अफ्रीका, अमेरिका और दूसरी जगहों में भी शाखाएं हैं। हिंदुस्तान में मिशन के ३७ कोढ़ीखाने हैं। इनके सिवा ऐसे ही दूसरे १५ कोढ़ीखानों को वह सहायता देता है। इनमें लगभग १०००० रोगियों के रहने, खाने-पीने और दवा-पानी का बंदोबस्त है। रोगियों के ८०० निरोग बच्चों को अलग करके स्वतंत्र निवास में रखने की व्यवस्था की गयी है। इसके सिवा बाहरी ६००० रोगी मिशन के दवाखानों से दवा पाते हैं।

मिशन के तीन उद्देश्य हैं—(१) रोगियों और उनके बच्चों की आध्यात्मिक शिक्षा का प्रबन्ध करना, (२) उनके भौतिक दुःख दूर करना, (३) अपनी ताकत भर कोढ़ को नेस्तनाबूद करने में मदद करना। इसके सिवा रोगियों की प्राथमिक शिक्षा, उद्योग-धंधे, खेल-कूद मनोरंजन वगैरा की व्यवस्था की जाती है। इन संस्थाओं में आम तौर से ईसाई ही अधिक हैं और उन्हींका वायुमण्डल है। उनके नियमों में यह भी है कि धार्मिक मामले में किसी प्रकार की सख्ती न की जाय। आज हिंदुस्तान के बहुतेरे कोढ़ीखाने मिशनरियों के इंतजाम में ही हैं, दूसरों के तो अंगुलियों पर गिनने भर को हैं। हिंदुस्तान में इस काम में फिलहाल हर साल मिशन ८ लाख रुपये से ऊपर खर्च

करता है। उसमें से आधी रकम सरकार से सहायता-स्वरूप, एक तिहाई दूसरे देशों से सहायता और बाकी भारतीय जनता से मिलती है। आरम्भ से अब तक इस काम में मिशन ने १५ करोड़ रुपये से ज्यादा खर्च किये हैं। हिंदुस्तान का प्रधान कार्यलय पुरुलिया (बिहार) में है।

लेप्रसी रिलीफ असोसियेशन—इण्डियन कौंसिल

१९२४ में लंदन में लेप्रसी रिलीफ असोसियेशन की स्थापना हुई और उसकी हिंदुस्तानी शाखा—इंडियन कौंसिल की साल भर बाद १९२५ में। हिन्दुस्तान में लोग रोगियों की दीन दशा से परिचित थे। इसलिए जब इंडिया कौंसिल की स्थापना के बाद फंड के लिए पब्लिक अपील निकली तो राजा महाराजा और जनता—सब ने बड़ी उदारता से उसका समर्थन किया। २०२५००० रुपया स्थायी कोष में जमा हो गया, और उससे मिलनेवाली १२२००० रुपये की सालाना रकम असोसियेशन की उद्देश्य-पूर्ति के लिये खर्च होने लगी। बीच में एक्सचेंज की दर के कारण इस आय में ११०००) सालाना की कमी हो गयी। पर आगे चल कर सिलवर जुबिली फंड में से ३१३०००) की सहायता मिल जाने से वह कमी पूरी हो गयी।

मर्यादित साधनों से अधिक से अधिक फायदा उठा लेने के लिए इस काम के तीन हिस्से किये गये हैं—(१) इस विषय के शोध अनुसंधान के लिये प्रेरणा और प्रोत्साहन देना, (२) रोग की उत्पत्ति, प्रतिबंध और उपचार संबंधी यथार्थ ज्ञान लोगों में फैलाना, और (३) रोगी के आधुनिक उपचार पाने का प्रबंध करना। यह कार्यक्रम अमल में लाने का काम मध्यवर्ती कौंसिल और प्रांतीय शाखाओं में बांट दिया गया है। अनुसंधान, प्रचार और अनुभवी डाक्टर सिखा कर तैयार करना इत्यादि सर्व प्रांतीय उपयोग संबंधी जिम्मेदारी मध्यवर्ती कौंसिल

की है। रोगियों के उपचार पाने की व्यवस्था वगैरा, जो स्थानीय प्रकार की जिम्मेदारी है, प्रांतीय शाखाएं करती हैं। उन्हें इसके लिए करीब-करीब आय का आधा हिस्सा दे दिया जाता है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपल बोर्डों से उन्हें और भी कुछ मदद मिल जाती है।

स्कूल आफ ट्रापिकल मेडिसिंस एंड हाइजीन (कलकत्ता) में अनुसंधान-कार्य की व्यवस्था रखी गयी है। उसमें ट्रापिकल स्कूल और इंडियन रिसर्च फंड असोसियेशन के अधिकारी सहायता करते हैं। १९३९ के अन्त तक पिछले १५ वर्षों में इसके लिए असोसियेशन ने ३६६८१२) रुपये खर्च किये हैं। इस संबंध का साहित्य, विज्ञापन, फिल्म और स्लाइड तैयार कराकर जनता में कोढ़के बारे में प्रचार किया जाता है। 'लेप्रसी इन इंडिया' नामक एक त्रैमासिक पत्र भी निकाला जाता है। इसकी वजह से कोढ़ संबंधी अनुभवों और खयालात के परस्पर आदान-प्रदान का सुभीता कार्यकर्ताओं को है। अब तक असोसियेशन ने ९२०००) रुपये प्रचार के लिए खर्च किये हैं। जानकार डाक्टर सिखा-पढ़ाकर तैयार करने के लिए कलकत्ता और डिचपल्ली में स्पेशल क्लास खोले जाते हैं। हिंदुस्तान तथा अन्य देशों में मिलाकर १००० डाक्टर तैयार हो गये हैं। इसके लिए असोसियेशन को ७९०००) रुपये खर्च करने पड़े हैं। इन सीख-पढ़कर तैयार हुए डाक्टरों ने अपने-अपने प्रांत में दूसरे डाक्टर सिखाकर तैयार कर दिये हैं। आज कोढ़ के आधुनिक-ज्ञान-प्राप्त जानकार डाक्टरों का किसी भी प्रांत में मिलना कठिन नहीं है।

हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में तुलनात्मक रोगमान क्या है, किस जाति और किस वर्ग में रोग अधिक है और उसके कारण क्या हैं यह निश्चय करने को १९२७ में एक खास सर्वे पार्टी ने बड़े हिस्से में जांच का काम शुरू किया था। इसमें असोसियेशन के ८७३०००) रुपये

खर्च हुए। उपयुक्त जानकारी प्राप्त करने के बाद १९३१ में सर्वे पार्टी विसर्जित कर दीगई। कोढ़ रोकने के प्रभावशाली उपाय के अनुसंधान का काम इस वक्त बंगाल और मद्रास के शहरी हिस्सों तथा गांवों में जारी है।

प्रांतीय और स्थानीय सब शाखाओं के उपचार के प्रबंध का काम उनकी आमदनी के अनुसार चलता है। सब देशों में कुल १००० उपचार-केन्द्र हैं। उनमें काफी रोगी उपचार के लिए आते हैं। हर शाखा की यह रिपोर्ट है कि नियमित और अधिक समय तक इलाज कराने पर उचित सुधार होता है। हजारों रोगियों को योग्य उपचार मिलता है और सुधरा हुआ रोगी बहुतेरे हताश भाइयों को केन्द्रों में भेजने का कारण बनता है, यह सुचिन्ह है। इसकी वजह से हिंदुस्तान से कोढ़ को नेस्तनाबूद करने की कोशिश में कामयाबी की उम्मीद होने लगी है।

क्युलिन (फिलिपाइन्स)

इस द्वीप में फिलिपाइंस के सब रोगी अलगा कर जमा कर दिये गये हैं। अमेरिकन और फिलिपाइन दोनों सरकारों ने मिल कर वहां एक आदर्श संस्था बना दी है। दुनिया की इस संबंध की यह एक उत्तम संस्था है। अनुसंधान के काम में इसका खास स्थान है।

कुछ उल्लेखनीय व्यक्ति

फादर डैमियन—यह बेलजियन पादरी थे। इनका मूल नाम था जोसेफ डिब्यूस्टर। इनका जन्म ३ जनवरी १८४० को ट्रेमेल में हुआ था। रोजगार में लगने के इरादे से इन्होंने तालीम पायी थी। लेकिन १८ वर्ष की उम्र में यह पादरी बन गये और डैमियन नाम पड़ा।

यह नायब पादरी होकर काम कर रहे थे कि इनके एक पादरी मित्र पैसिफिक द्वीप में बीमार पड़े। उनकी जगह यह काम करने गये। हवाई द्वीप की राजधानी होनोलूलू में मार्च १८६४ में पहुंचे। आरम्भ

में ह्विट्सन टाइड में इनकी नियुक्ति हुई। उस समय हर कोढ़ी को मोलोकाई द्वीप में अलग भेज देने का हवाइयन सरकार का कायदा था। उनकी हालत बहुत ही दयनीय और हृदयस्पर्शी थी। डैमियन साहब उनका दुःख दूर करने को तड़फड़ाने लगे। इन्होंने १८७३ में खुद स्वयंसेवक की भांति मोलोकाई द्वीप में धर्मोपदेशक का काम करना स्वीकार किया। मोलोकाई द्वीप में पांव रखने के बाद वहीं इन्होंने अपनी जिंदगी बिता दी। सिर्फ पादरी के नाते होनोलूलू जाते थे। उतना ही वक्त बाहर बीतता था, बाकी सब उसी द्वीप में। धर्मोपदेशक के काम के सिवा पानी, रहने के मकानात, खानपान इत्यादि का सुधार कर रोगियों की भौतिक सुख-सुविधा की ओर भी यह ध्यान देते थे। इस काम में यह खुद शारीरिक श्रम करते थे, इससे उस ओर सरकार का ध्यान भी खिंचा था। शुरू के ५ वर्षों में इन्होंने सिर्फ अकेले ही काम चलाया। उसके बाद वहां के दूसरे धर्मोपदेशक इनकी सहायता करने लगे। यह रोगियों की हर तरह की सेवा निःसंकोच होकर करते थे। १८८५ में इनको खुद कोढ़ हो गया और १५ वीं अप्रैल १८८९ में इन्होंने शरीर छोड़ा। स्टीवन्सन, क्लिफोर्ड और पम्पट्यूल वगैरा ने इनके जो जीवनचरित्र लिखे हैं वह पढ़ने योग्य हैं।

यूरोपीय देशों में कोढ़ियों के विषय में रस लेनेवालों में ईसामसीह के बाद ही फादर डैमियन का नाम लिया जाता है। फादर डैमियन स्वार्थ-त्याग और निरपेक्ष-सेवा की सच्ची प्रतिमूर्ति थे।

आर्मूर हनसेन

इन्होंने १८७१ में कोढ़ के कीटाणुओं की खोज की। अभी तक ऐसी दूसरी खोज नहीं हुई है। यह जैसे विशेषज्ञ थे वैसे ही उदारचेता भी। नारवे में कोढ़ को नेस्तनाबूद करने में इनका खास हाथ था।